।। ॐ श्रीपरमात्मने नमः ।।

सहज गीता

अक्षर ब्रह्मयोग

ज्ञान–विज्ञानयोग

आत्म संयमयोग

कर्म संन्यासयोग

ज्ञान कर्म संन्यासयोग

कर्मयोग

सांख्ययोग

अर्जुन विषादयोग

परमश्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज

द्वारा रचित **'साधक संजीवनी'** पर आधारित

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

सहज गीता

[परमश्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज द्वारा विरचित गीताकी टीका 'साधक-संजीवनी' पर आधारित]

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

गीता प्रकाशन कार्यालय,
माया बाजार, पश्चिमी फाटक,
गोरखपुर—273001 (उ०प्र०)
फोन—09389593845, 09453492241
e-mail: radhagovind10@gmail.com

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

प्रकाशकीय निवेदन

जिस प्रकार विश्वका कल्याण करनेके लिये भगवान्‌ने परमभागवत अर्जुनको निमित्त बनाकर श्रीमद्भगवद्‌गीताका महान् उपदेश प्रदान किया, उसी प्रकार भगवान्‌ने परमश्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजको निमित्त बनाकर श्रीमद्भगवद्‌गीताकी टीका '**साधक-संजीवनी**' प्रदान की है। इस अभूतपूर्व ग्रन्थमें गीताके अत्यन्त सूक्ष्म तथा गहरे भावोंका प्राकट्य हुआ है, जिससे विगत लगभग पचीस वर्षोंसे लाखों साधक लाभान्वित हुए हैं तथा भविष्यमें भी होते रहेंगे।

कुछ मास पूर्व श्रीमहाराजजीकी कृपासे 'गीता प्रकाशन' के द्वारा '**संजीवनी-सुधा**' पुस्तकका प्रकाशन हुआ था, जिसमें 'साधक-संजीवनी' के कल्याणकारी मार्मिक भावोंको विषयानुक्रमसे संकलित किया गया है। इसे पाठकोंने बहुत उत्साहसे अपनाया और हमारा भी उत्साहवर्धन किया! इस पुस्तकके प्रकाशनके बाद एक और पुस्तक '**सीमाके भीतर असीम प्रकाश**' का प्रकाशन हुआ। इस पुस्तकमें श्रीमहाराजजीके शीघ्र कल्याणकारी प्रवचनोंका सार संकलित किया गया है। सर्वोपयोगी होनेके कारण इस पुस्तकका व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ। फलस्वरूप इसके दो संस्करण हाथों-हाथ समाप्त हो गये!

बहुत दिनोंसे मेरी अभिलाषा थी कि गीताके सन्दर्भमें श्रीमहाराजजीके उन्मुक्त, मार्मिक, गहरे, हृदयस्पर्शी भावोंके अनुसार सरल हिन्दी भाषामें एक ऐसी श्रीमद्भगवद्‌गीता प्रकाशित की जाय, जिससे नये लोगोंकी गीतामें रुचि पैदा हो जाय और वे भी गीताके भावोंसे परिचित हो सकें। इसी उद्देश्यसे '**सहज गीता**' को प्रकाशित किया जा रहा है। इसका सम्पादन श्रीराजेन्द्र कुमार धवनने किया है। इस पुस्तककी भाषा तो सरल एवं सहज है, पर भाव वैसे ही गहरे हैं।

कैसा अद्भुत संयोग है कि गीताके वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण, श्रोता अर्जुन और लेखक कृष्णद्वैपायन वेदव्यासजी—तीनोंका ही नाम 'कृष्ण' है! (कृष्णवर्ण होनेके कारण अर्जुनका एक नाम 'कृष्ण' भी था)। इसी प्रकार गीताके भावोंके अनुसार अपना जीवन बनानेवाला व्यक्ति भी 'कृष्ण' हो जाय तो इसमें आश्चर्यकी बात नहीं! ऐसे महापुरुषकी दृष्टिमें भी एक कृष्णके सिवाय कुछ नहीं रहता—'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७। १९)।

मेरी हार्दिक अभिलाषा है कि 'गीता प्रकाशन' के साहित्यका प्रत्येक पाठक गीताका प्रचारक बने। अतः पाठकोंसे मेरा विनम्र निवेदन है कि वे इस 'सहज गीता' पुस्तकको स्वयं भी पढ़ें और दूसरोंको भी पढ़नेके लिये प्रेरित करके भगवान्‌का अत्यन्त प्रियपात्र बनें।

श्रीरामनवमी,
वि०सं० २०६८

सन्तचरणरज—
प्रह्लाद ब्रह्मचारी

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अध्याय-सूची

विषय *पृष्ठ-संख्या*

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

गजाननं भूतगणादिसेवितं कपित्थ जम्बूफलचारुभक्षणम्।
उमासुतं शोकविनाशकारकं नमामि विघ्नेश्वरपादपङ्कजम्॥

'जो गजके मुखवाले हैं, भूतगण आदिके द्वारा सेवित हैं, कैथ और जामुनके फलोंका बड़े सुन्दर ढंगसे भक्षण करनेवाले हैं और भगवती उमाके पुत्र हैं, उन विघ्नेश्वर गणेशजीके चरणकमलोंमें मैं प्रणाम करता हूँ।'

पराकृतनमद्बन्धं परं ब्रह्म नराकृति।
सौन्दर्यसारसर्वस्वं वन्दे नन्दात्मजं महः॥

'जिन्होंने प्रणाम करनेवालोंके भव-बन्धनको दूर कर दिया है तथा जो मनुष्यके आकारमें साक्षात् परब्रह्म हैं, नन्दके पुत्रभावको प्राप्त हुए उस सौन्दर्यराशिके सर्वस्व सारभूत दिव्य तेजको मैं प्रणाम करता हूँ।'

प्रपन्नपारिजाताय तोत्त्रवेत्रैकपाणये।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः॥

'जो शरणागत भक्तोंको कल्पवृक्षके समान मनोवांछित वस्तु देनेवाले, एक हाथमें लगाम और बेंतकी चाबुक धारण किये हुए तथा ज्ञानकी मुद्रासे युक्त हैं, गीतारूपी अमृतको दुहनेवाले उन भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार है।'

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम्।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्॥

'जो वसुदेवजीके पुत्र, दिव्यरूपधारी, कंस तथा चाणूरका नाश करनेवाले और देवकीजीके लिये आनन्दस्वरूप हैं, उन जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णकी मैं वन्दना करता हूँ।'

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

सहज गीता

पहला अध्याय

(अर्जुनविषादयोग)

जब पाण्डवोंका बारह वर्षका वनवास और एक वर्षका अज्ञातवास समाप्त हो गया, तब उन्होंने पूर्वप्रतिज्ञाके अनुसार दुर्योधनसे अपना आधा राज्य माँगा। परन्तु दुर्योधनने आधा राज्य तो क्या, तीखी सूईकी नोक-जितनी जमीनको भी बिना युद्धके देना स्वीकार नहीं किया। अतः पाण्डवोंने माता कुन्तीकी आज्ञाके अनुसार युद्ध करनेका निर्णय ले लिया। इस प्रकार पाण्डवों और कौरवोंका युद्ध होना निश्चित हो गया और तदनुसार दोनों ओरसे युद्धकी तैयारी होने लगी।

महर्षि वेदव्यासजीका धृतराष्ट्रपर बहुत स्नेह था। उस स्नेहके कारण उन्होंने धृतराष्ट्रके पास आकर कहा कि 'युद्ध होना और उसमें क्षत्रियोंका महान् संहार होना अवश्यम्भावी है, इसे कोई टाल नहीं सकता। यदि तुम युद्ध देखना चाहते हो तो मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि दे सकता हूँ, जिससे तुम यहीं बैठे-बैठे युद्धको अच्छी तरहसे देख सकते हो'। इसपर धृतराष्ट्रने कहा कि 'मैं जन्मभर अन्धा रहा, अब अपने कुलके संहारको मैं देखना नहीं चाहता; परन्तु युद्ध कैसे हो रहा है—यह समाचार जरूर सुनना चाहता हूँ।' तब वेदव्यासजीने कहा कि 'मैं संजयको दिव्य दृष्टि देता हूँ, जिससे वह सम्पूर्ण युद्धको, सम्पूर्ण घटनाओंको, सैनिकोंके मनमें आयी हुई बातोंको भी जान लेगा, सुन लेगा, देख लेगा और सब बातें तुम्हें सुना भी देगा'। ऐसा कहकर व्यासजीने संजयको दिव्य दृष्टि प्रदान की।

निश्चित समयके अनुसार कुरुक्षेत्रमें युद्ध आरम्भ हुआ। दस दिनतक संजय युद्ध-स्थलमें ही रहे। जब पितामह भीष्म बाणोंके द्वारा रथसे गिरा दिये गये, तब संजयने हस्तिनापुरमें, जहाँ धृतराष्ट्र विराजमान थे, आकर धृतराष्ट्रको यह समाचार सुनाया। इस समाचारको सुनकर धृतराष्ट्रको बहुत दुःख हुआ और वे विलाप करने लगे। फिर उन्होंने संजयसे युद्धका सारा समाचार सुनानेके लिये कहा।

महाभारतमें कुल अठारह पर्व हैं। उन पर्वोंके अन्तर्गत कई अवान्तर पर्व भी हैं। उनमेंसे 'भीष्मपर्व' के अन्तर्गत यह 'श्रीमद्भगवद्गीतापर्व' है, जो भीष्मपर्वके तेरहवें अध्यायसे आरम्भ होकर बयालीसवें अध्यायमें समाप्त होता है। भीष्मपर्वके चौबीसवें अध्यायतक संजयने युद्ध-सम्बन्धी बातें धृतराष्ट्रको सुनायीं। पचीसवें अध्यायके आरम्भमें धृतराष्ट्रके प्रश्नसे श्रीमद्भगवद्गीताका आरम्भ होता है।

धृतराष्ट्रने संजयसे पूछा—हे संजय! राजा कुरुकी तपस्याभूमि कुरुक्षेत्रमें युद्धके लिये इकट्ठे हुए मेरे और पाण्डुके पुत्रों (कौरवों और पाण्डवों) ने किस प्रकार युद्ध किया, इसे विस्तारसे मुझे सुनाओ।

संजय बोले—जब दुर्योधनने वज्रव्यूह-रचनासे खड़ी हुई पाण्डवोंकी सेनाको देखा तो वह भयभीत हो गया और द्रोणाचार्यके पास जाकर उन्हें पाण्डवोंके विरुद्ध उकसाते हुए बोला कि 'महाराज, देखिये, जो आपको मारनेके लिये ही पैदा हुआ है, वही धृष्टद्युम्न पाण्डवोंका सेनापति बनकर आपके सामने खड़ा है! इसलिये आप बड़ी सावधानीसे युद्ध करें। धृष्टद्युम्नके सिवाय और भी बहुत-से योद्धा पाण्डव-सेनामें खड़े हैं; जैसे—युयुधान (सात्यकि), विराट, द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान, काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज, शैब्य, युधामन्यु, उत्तमौजा, अभिमन्यु और द्रौपदीके पाँचों पुत्र (प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, श्रुतकर्मा,

शतानीक और श्रुतसेन)। ये सभी योद्धा महारथी* हैं।

इसके बाद दुर्योधन बोला कि पाण्डव-सेनाकी तरह हमारी सेनामें भी बहूत-से महारथी हैं; जैसे—आप, पितामह भीष्म, कर्ण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण, भूरिश्रवा आदि। इनके सिवाय भी मेरे लिये अपने प्राण न्यौछावर करनेवाले अनेक शूरवीर हमारी सेनामें आये हैं। परन्तु दुर्योधनकी चालाकीसे भरी हुई बातें सुनकर द्रोणाचार्य चुप रहे, कुछ बोले नहीं।

द्रोणाचार्यको चुप देखकर दुर्योधनके मनमें विचार आया कि मैं भले ही बाहरसे अपनी सेनाकी प्रशंसा करूँ, पर वास्तवमें हमारी सेना पाण्डवोंपर विजय करनेमें असमर्थ है, जब कि पाण्डवसेना हमारी सेनापर विजय करनेमें समर्थ है। [*कारण यह था कि कौरव-सेनाके मुख्य संरक्षक पितामह भीष्मके भीतर कौरव और पाण्डव दोनोंका पक्ष था अर्थात् वे दोनोंका भला चाहते थे, जब कि पाण्डवोंके संरक्षक भीमके भीतर केवल पाण्डवोंका ही पक्ष था।*] मनमें ऐसा विचार आनेके बाद दुर्योधन बाहरसे पितामह भीष्मको प्रसन्न करनेके लिये अपनी सेनाके सभी महारथियोंसे बोला कि 'आप सब-के-सब लोग पितामह भीष्मकी चारों तरफसे रक्षा करें और इस बातको ध्यानमें रखें कि किसी भी तरफसे शिखण्डी** उनके सामने न आ जाय'। [*कारण कि दुर्योधनके भीतर यह विश्वास था कि पितामह भीष्म इच्छामृत्यु हैं, इसलिये वे पाण्डवोंके लिये अजेय हैं। अगर उन्हें किसीसे खतरा है तो केवल शिखण्डीसे ही खतरा है।*] पितामह भीष्मने दुर्योधनको इस प्रकार घोर निराशामें देखा तो उन्होंने उसे प्रसन्न करनेके लिये सिंहकी दहाड़के समान गरजकर शंख बजाया। यद्यपि भीष्मजीने दुर्योधनको प्रसन्न करनेके लिये ही शंख बजाया था, तथापि कौरवसेनाने इसे युद्धारम्भकी घोषणा समझ लिया। अतः पूरी कौरवसेनामें एक साथ शंख, नगाड़े, ढोल, मृदंग और नरसिंघे बाजे बज उठे। इन बाजोंसे बड़ा भयंकर शब्द हुआ।

इधर पाण्डवसेनामें सफेद घोड़ोंसे जुते हुए महान् रथपर विराजमान भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनने भी अपने-अपने शंखोंको बड़े जोरसे बजाया। भगवान् श्रीकृष्णने 'पांचजन्य', अर्जुनने 'देवदत्त', भीमने 'पौण्ड्र', युधिष्ठिरने 'अनन्तविजय', नकुलने 'सुघोष' और सहदेवने 'मणिपुष्पक' नामक शंख बजाये। इनके सिवाय काशिराज, शिखण्डी, धृतद्युम्न, विराट, सात्यकि, द्रुपद, द्रौपदीके पाँचों पुत्र और अभिमन्युने भी अपने-अपने शंख बजाये। पाण्डवसेनाकी शंखध्वनिका इतना भयंकर असर हुआ कि उससे कौरवोंके हृदय विदीर्ण हो गये।

[*यहाँ एक बात ध्यान देनेकी है कि कौरवसेनाके शंख आदि बाजे बजे तो उनकी ध्वनिका पाण्डवोंपर कुछ भी असर नहीं हुआ, पर पाण्डवसेनाके शंख बजे तो उनकी ध्वनिसे कौरवोंके हृदय विदीर्ण हो गये। इसका कारण यह है कि पाण्डवोंका पक्ष धर्मका और कौरवोंका पक्ष अधर्मका था। जो धर्मका पालन करते हैं, उनका हृदय मजबूत होता है और जो अधर्म, पाप, अन्याय करते हैं, उनका हृदय कमजोर होता है।*]

---

* जो शस्त्र और शास्त्रमें प्रवीण है तथा युद्धमें अकेले ही एक साथ दस हजार धनुर्धारी योद्धाओंका संचालन कर सकता है, उस वीर पुरुषको 'महारथी' कहते हैं।

** शिखण्डी पहले जन्ममें भी स्त्री था और इस जन्ममें भी पहले स्त्री था, पीछे पुरुष बना था। इसलिये भीष्मजी उसे स्त्री ही समझते थे और उन्होंने उससे युद्ध न करनेकी प्रतिज्ञा कर रखी थी। शिखण्डी शंकरके वरदानसे भीष्मजीको मारनेके लिये ही पैदा हुआ था।

जब अर्जुनने अपनी सेनाको शस्त्र उठाये देखा तो उन्होंने भी उत्साहसे भरकर अपना गाण्डीव धनुष उठा लिया और सारथिरूप बने हुए भगवान् श्रीकृष्णसे बोले—हे अच्युत! आप मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें ले जाइये और वहाँ तबतक खड़ा रखिये, जबतक मैं यह न देख लूँ कि मुझे किन-किनके साथ युद्ध करना है और दुष्टबुद्धि दुर्योधनकी सहायताके लिये कौन-कौन राजालोग आये हुए हैं।

संजय बोले—अर्जुनकी बात सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने दोनों सेनाओंके बीचमें भीष्म और द्रोणाचार्यके सामने रथको खड़ा कर दिया और अर्जुनसे बोले कि 'हे पार्थ! युद्धके लिये इकट्ठे हुए इन कुरुवंशियोंको देख।' भगवान्के द्वारा कहे हुए 'कुरुवंशियोंको देख'—इन शब्दोंका अर्जुनपर गहरा असर हुआ। उस असरके कारण जब अर्जुनने युद्धभूमिमें पिताओंको, पितामहोंको, आचार्योंको, मामाओंको, भाइयोंको, पुत्रोंको, पौत्रोंको, मित्रोंको, ससुरोंको और सुहृदोंको खड़े हुए देखा तो उनमें कौटुम्बिक मोह जाग्रत् हो गया। फलस्वरूप वे अपने क्षत्रिय-धर्मसे विमुख हो गये और उनके भीतर कायरता आ गयी। वे बहुत दु:खी होकर भगवान्से कहने लगे—'हे कृष्ण! युद्धभूमिमें अपने कुटुम्बियोंको सामने खड़े देखकर मेरे शरीरके अंग शिथिल हो रहे हैं, मुख सूख रहा है, सारा शरीर थर-थर काँप रहा है तथा शरीरके सभी रोंगटे खड़े हो रहे हैं; मेरे हाथसे गाण्डीव धनुष गिर रहा है, सारे शरीरमें जलन हो रही है और मन भ्रमित हो रहा है। इतना ही नहीं, अब मेरे लिये रथपर खड़े रहना भी मुश्किल हो रहा है। हे केशव! शकुन भी विपरीत हो रहे हैं, जो भविष्यमें अनिष्टकी सूचना दे रहे हैं। युद्धमें अपने कुटुम्बियोंको मारनेसे हमें कोई लाभ होता हुआ भी नहीं दीख रहा है। हे कृष्ण! युद्धमें हमारी विजय हो जाय, हमें राज्य मिल जाय और और हम सुखी हो जायँ, यह भी मैं नहीं चाहता। ऐसी स्थितिमें हे गोविन्द! हमें राज्य मिलनेसे, भोग मिलनेसे अथवा जीवित रहनेसे भी क्या लाभ? कारण कि जिन कुटुम्बियों, प्रेमियों, मित्रोंके लिये हम राज्य, भोग और सुख चाहते हैं, वे ही लोग अपने प्राणों और धनकी आशाको छोड़कर हमारे सामने युद्धभूमिमें खड़े हैं। अगर ये कुटुम्बीजन मुझे मारना भी चाहें, तो भी मैं इनको मारना नहीं चाहता। हे मधुसूदन! इस पृथ्वीकी तो बात ही क्या है, अगर इनको मारनेसे मुझे त्रिलोकीका राज्य भी मिलता हो तो भी मैं इनको मारना नहीं चाहता। हे जनार्दन! अगर हम इन कौरवोंको मारकर विजय प्राप्त कर लें तो भी हमारे चित्तमें कभी प्रसन्नता नहीं होगी। यद्यपि शास्त्र-वचनके अनुसार आततायी* को मारनेसे पाप नहीं लगता तथापि अपने कुटुम्बी होनेके कारण इन दुर्योधन आदि आततायियोंको मारनेसे हमें पाप ही लगेगा। इसलिये इन कौरवोंको मारना हमारे लिये उचित नहीं है; क्योंकि हे माधव! अपने कुटुम्बियोंको मारकर हम कैसे सुखी होंगे?

हे जनार्दन! यद्यपि लोभके कारण दुर्योधन आदिकी बुद्धि नष्ट हो गयी है, जिससे उनको कुलके नाश तथा मित्रद्रोहसे होनेवाला भयंकर पाप नहीं दीख रहा है, तथापि उस पापको ठीक-ठीक जाननेवाले हमलोगोंका तो इस पापसे बचनेका विचार करना ही चाहिये। हमलोग अच्छी तरह जानते हैं कि युद्धमें कुलका नाश होनेपर कुलके साथ सदासे रहनेवाले धर्म भी नष्ट हो जाते हैं। जब कुलके धर्म नष्ट हो जाते हैं, तब सम्पूर्ण कुलमें अधर्म छा जाता है। अधर्म (करनेयोग्य कामको न करना और न करनेयोग्य कामको करना)-के अधिक बढ़नेपर जब कुलके लोगोंका अन्त:करण अशुद्ध हो

---

* आग लगानेवाला, विष देनेवाला, हाथमें शस्त्र लेकर मारनेको तैयार हुआ, धनको हरनेवाला, जमीन (राज्य) छीननेवाला और स्त्रीका हरण करनेवाला—ये छः आततायी कहलाते हैं।

जाता है और बुद्धि तामसी हो जाती है, तब कुलकी स्त्रियाँ व्यभिचारिणी हो जाती हैं। व्यभिचारके कारण उनसे वर्णसंकर* सन्तानें पैदा होती हैं। वर्णसंकर सन्तानमें धार्मिक बुद्धि नहीं होती। वह कुलका नाश करनेवालोंको तथा पूरे कुलको भी नरकोंमें ले जानेवाला होता है। अपने पूर्वजोंके प्रति आदरबुद्धि न होनेसे उसके द्वारा पितरोंको पिण्ड-पानी भी नहीं मिलता, जिससे उनका अपने स्थानसे पतन हो जाता है। इस तरह इन वर्णसंकर पैदा करनेवाले दोषोंसे कुलघातियोंके वर्णधर्म नष्ट हो जाते हैं। हे जनार्दन! जिनके कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं, उनको बहुत समयतक नरकोंका कष्ट भोगना पड़ता है—ऐसा हम बड़े-बूढ़े गुरुजनोंसे सुनते आये हैं। यह बड़े आश्चर्यकी तथा दु:खकी बात है कि धर्म-अधर्मको, पाप-पुण्यको जाननेवाले होनेपर भी हमलोग अनजान आदमीकी तरह राज्य और सुखके लोभसे बड़ा भारी पाप करनेका विचार कर बैठे हैं! यह हमारे लिये सर्वथा अनुचित है।'

उपर्युक्त वचन कहनेके बाद अर्जुन अपना अंतिम निर्णय सुनाते हैं—'मैं न तो युद्ध करूँगा और न शस्त्र ही उठाऊँगा, फिर भी यदि ये लोग मुझे मार दें तो उनका वह मारना मेरे लिये बड़ा हितकारक होगा। कारण कि मैं युद्ध नहीं करूँगा तो मैं भी पापसे बचूँगा और मेर कुलका भी नाश नहीं होगा।'

संजय बोले—ऐसा कहकर शोकसे अत्यन्त व्याकुल हुए अर्जुनने युद्ध न करनेका पक्का निश्चय कर लिया और वे गाण्डीव धनुष तथा बाणका त्याग करके रथके मध्यभागमें बैठ गये।

हरि: ॐ तत्सत्! *हरि: ॐ तत्सत्!!* *हरि: ॐ तत्सत्!!!*

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नम: ॥

दूसरा अध्याय

(सांख्ययोग)

संजय धृतराष्ट्रसे बोले—जिनके भीतर कौटुम्बिक मोह छा गया है और आँखोंमें आँसू भरनेके कारण जिन्हें ठीक तरहसे दीख भी नहीं रहा है, ऐसे विषादयुक्त अर्जुनको चेताते हुए भगवान् मधुसूदनने क्या कहा, यह आप मुझसे सुनें।

श्रीभगवान् बोले—'हे अर्जुन! आश्चर्यकी बात है कि ऐसे युद्धके मौकेपर तुम्हारेमें उत्साहके बदले यह कायरता कहाँसे आ गयी? श्रेष्ठ पुरुषमें ऐसी कायरता नहीं आती, जिससे न तो स्वर्ग मिलता है, न संसारमें यश ही मिलता है। युद्ध न करना धर्मकी बात नहीं है, यह तो नपुंसकता (हिंजड़ापन) है। तुम्हारे-जैसे शूरवीर योद्धामें ऐसी नपुंसकता आनी सर्वथा अनुचित है। युद्ध न करना तुम्हारे हृदयकी दुर्बलता, कमजोरी है। इसलिये हे पार्थ! उठो और हृदयकी इस तुच्छ दुर्बलताका त्याग करके युद्धके लिये खड़े हो जाओ।'

---

* परस्परविरुद्ध धर्मोंका मिश्रण होकर जो बनता है, उसे 'संकर' कहते हैं। पुरुष और स्त्री—दोनों अलग-अलग वर्णके होनेपर उनसे जो सन्तान पैदा होती है, वह 'वर्णसंकर' कहलाती है।

जब भगवान्‌ने अर्जुनको फटकारते हुए उसे युद्धके लिये खड़े होनेकी आज्ञा दी, तब अर्जुन एकाएक उत्तेजित होकर बोले—'हे मधुसूदन! जिनकी गोदमें मैं पला हूँ, वे पितामह भीष्म और जिनसे मैंने शिक्षा प्राप्तकी है, वे आचार्य द्रोण, दोनों ही मेरे लिये पूजनीय हैं, फिर उनपर मैं बाण कैसे चलाऊँ?' *[अर्जुनपर भगवान्‌की विलक्षण वाणीका असर होने लगता है और वे पुनः भगवान्‌से कहते हैं—]* 'मैं युद्ध करूँ अथवा न करूँ, इसका मैं निर्णय नहीं कर पा रहा हूँ। युद्धमें हमारी विजय होगी अथवा कौरवोंकी—इसका भी हमें पता नहीं है। हम जिन्हें मारकर जीना भी नहीं चाहते, वे ही हमारे कुटुम्बी हमारे सामने खड़े हैं। एक तो कायरतारूप दोषके कारण मेरा क्षात्र-स्वभाव दब गया है और दूसरा, धर्मके विषयमें मेरी बुद्धि भी काम नहीं कर रही है। इसलिये मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि जिससे मेरा निश्चित कल्याण हो जाय, ऐसी बात आप मुझसे कहिये। मैं आपका शिष्य हूँ और आपके शरण हूँ। आप मुझे शिक्षा दीजिये। कारण कि यदि मुझे धन-धान्यसे सम्पन्न और निष्कण्टक राज्य अथवा स्वर्गका राज्य भी मिल जाय, तो भी इन्द्रियोंको सुखानेवाला मेरा शोक दूर नहीं हो सकता।'

संजय बोले—अर्जुन अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णसे 'मैं युद्ध नहीं करूँगा'—ऐसा साफ-साफ कहकर चुप हो गये। पहले तो अर्जुन भगवान्‌के शरण होकर शिक्षा देनेकी प्रार्थना करते हैं, फिर भगवान्‌के बोलनेसे पहले ही अपना निर्णय सुना देते हैं कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा', यह देखकर भगवान्‌को हँसी आ गयी; क्योंकि शरणागत होनेपर 'मैं क्या करूँ, क्या नहीं करूँ' आदि सोचनेका अधिकार ही नहीं रहता। इसलिये भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनके प्रति हँसते हुए-से ये वचन बोले *(यहींसे गीताके महान् दिव्य उपदेशका आरम्भ होता है)*—

हे अर्जुन! एक तरफ तो तुम पण्डिताईकी बातें बघार रहे हो और दूसरी तरफ शोक भी कर रहे हो! 'वास्तवमें जो पण्डित (ज्ञानी) होते हैं, वे कभी किसी मृत अथवा जीवित प्राणीके लिये शोक नहीं करते।

संसारमें दो ही चीजें हैं—नाशवान् शरीर और अविनाशी शरीरी (शरीरवाला अर्थात् आत्मा)। नाशवान्‌का नाश होता ही है और अविनाशीका कभी नाश नहीं होता, इसलिये इन दोनोंके लिये ही शोक करना नहीं बनता। मैं, तुम और ये राजा लोग—तीनोंके शरीर तो जन्मसे पहले भी नहीं थे और मरनेके बाद भी नहीं रहेंगे, पर हम स्वयं (आत्मरूपसे) पहले भी थे और बादमें भी रहेंगे। हमारा कभी नाश नहीं होता। शरीर मरता है, शरीरी नहीं मरता; क्योंकि वह परमात्माका अंश है। शरीरमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। जैसे शरीरकी बाल, युवा और वृद्ध—ये तीन अवस्थाएँ हैं, ऐसे ही मरनेके बाद दूसरे शरीरकी प्राप्ति भी एक अवस्था है। अवस्थाएँ बदलती हैं, पर स्वयं नहीं बदलता। इस विषयको जाननेवाला ज्ञानी पुरुष कभी मोहित नहीं होता; क्योंकि वह इस सत्यका अनुभव कर लेता है कि जन्मना और मरना मेरा धर्म नहीं है, अपितु शरीरका धर्म है। मेरी आयु अनादि और अनन्त है, जिसके अंतर्गत अनेक शरीर उत्पन्न होते और मरते रहते हैं।

हे कौन्तेय! सृष्टिके सम्पूर्ण पदार्थ अनुकूलता-प्रतिकूलताके द्वारा सुख-दुःख देनेवाले और उत्पत्ति-विनाशशील तथा आने-जानेवाले हैं। हे भारत! उनको तुम सहन करो अर्थात् उनसे ऊँचे उठो; क्योंकि तुम उनको जाननेवाले हो, उनसे अलग हो। इसलिये तुम्हें उनके संयोग-वियोगको लेकर सुखी-दुःखी नहीं होना चाहिये। जो बुद्धिमान् मनुष्य आने-जानेवाले सांसारिक पदार्थोंके संयोग-वियोगसे सुखी-दुःखी नहीं होता, वह जीते-जी अमर हो जाता है।

असत्-वस्तु (शरीर-संसार)-की सत्ता है ही नहीं; उसका सदा ही अभाव है। परन्तु सत्-वस्तु

(शरीरी)-का कभी अभाव होता ही नहीं; वह सदा ही विद्यमाान रहता है। इसलिये तत्त्वज्ञ महापुरुषोंको इस बातका अनुभव हो जाता है कि 'एक सत्-तत्त्व (सत्तामात्र)-के सिवाय कुछ भी नहीं है। उस अविनाशी सत्-तत्त्वसे यह सम्पूर्ण संसार बर्फमें जलकी तरह व्याप्त है। शरीरोंका तो विनाश हो सकता है, पर उस सत्-तत्त्वका (शरीरी)-का विनाश कोई कर सकता ही नहीं। इसलिये हमारी सत्ता शरीरके अधीन नहीं है। हम शरीरसे चिपके हुए नहीं हैं। हे अर्जुन! इस प्रकार सत्-असत्का तत्त्व समझकर तुम शोक-चिन्ता छोड़ दो और युद्ध करो।

जो मनुष्य इस शरीरीको मारनेवाला मानता है और जो इसको मरनेवाला मानता है, वे दोनों ही बेसमझ हैं। वास्तवमें यह शरीरी न तो मारता है और न मारा ही जाता है। कारण कि शरीरी किसी भी क्रियाका कर्ता नहीं है। जन्म लेना, सत्तावाला दीखना, बदलना, बढ़ना, घटना और मरना—ये छहों विकार शरीरमें ही होते हैं, शरीरीमें नहीं। इसलिये शरीरके न रहनेपर हमारा कुछ भी बिगड़ता नहीं। इस प्रकार जाननेवाले मनुष्यमें (राग-द्वेषपूर्वक) दूसरोंका मारने और मरवानेमें प्रवृत्ति नहीं होती। जैसे मनुष्य पुराने कपड़ोंको छोड़कर दूसरे नये कपड़ोंको धारण करता है, ऐसे ही यह शरीरी पुराने शरीरोंको छोड़कर दूसरे-नये शरीरोंको धारण करता है। पुराना शरीर छोड़नेको 'मरना' और नया शरीर धारण करनेको 'जन्मना' कह देते हैं। जैसे अनेक कपड़े बदलनेपर भी हम एक ही रहते हैं, ऐसे ही अनेक योनियोंमें अनेक शरीर धारण करनेपर भी हम स्वयं एक ही (वही-के-वही) रहते हैं।

इस शरीरीको शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, जल गीला नहीं कर सकता और हवा सुखा नहीं सकती। इसका कारण यह है कि शरीरी कटनेवाली, जलनेवाली, गीला होनेवाली अथवा सूखनेवाली वस्तु है ही नहीं। इसमें किसी भी क्रियाका प्रवेश नहीं होता। यह नित्य-निरन्तर रहनेवाला, सम्पूर्ण देश, काल आदिमें विराजमान, अचल अर्थात् स्थिर स्वभाववाला, हिलने-डुलनेकी क्रियासे रहित और अनादि है। यह शरीरी स्थूलरूपसे देखनेमें नहीं आता। यह चिन्तनका विषय भी नहीं है। इसमें कभी किंचिन्मात्र भी परिवर्तन नहीं होता। इसलिये शरीरीको लेकर शोक करना तुम्हारी बिलकुल ही बेसमझी है।

हे महाबाहो! यदि तुम सिद्धान्तसे विरुद्ध बात भी मान लो कि 'शरीरी नित्य जन्मने और मरनेवाला है', तो भी तुम्हें शोक नहीं होना चाहिये। कारण कि जो जन्मेगा, वह मरेगा ही और जो मरेगा, वह जन्मेगा ही—इस नियमको कोई टाल नहीं सकता। यदि साधारण दृष्टिसे देखें तो सभी प्राणी स्वप्नकी तरह जन्मसे पहले भी नहीं दीखते थे और मरनेके बाद भी नहीं दीखेंगे, केवल बीचमें ही दीख रहे हैं। जो आदि और अंतमें नहीं होता, वह बीचमें भी नहीं होता—यह सिद्धान्त है। इस दृष्टिसे भी किसी प्राणीके लिये शोक करना नहीं बनता।

यह शरीरी बड़ा विलक्षण, अलौकिक तत्त्व है; क्योंकि यह इन्द्रिय-मन-बुद्धिसे सर्वथा परे है। इसलिये इसको जानना, इसका वर्णन करना और इसके विषयमें सुनना सांसारिक विषयोंकी तरह नहीं होता, अपितु उससे सर्वथा विलक्षण, आश्चर्यजनक होता है। शास्त्र, गुरु आदिसे सुनकर भी कोई इस शरीरीको नहीं जान सकता। यह तो केवल अपने-आपसे ही जाना जा सकता है।

हे भारत! तुम निश्चित जान लो कि शरीरीका नाश कभी किसी भी तरहसे हो ही नहीं सकता और कोई कर भी नहीं सकता। इसलिये तुम्हें किसी भी प्राणीके लिये शोक नहीं करना चाहिये।

(दूसरे दार्शनिक ग्रन्थोंमें अविनाशी और नाशवान्का ब्रह्म और जीव, आत्मा और अनात्मा, प्रकृति

और पुरुष आदि नामोंसे वर्णन किया गया है; परन्तु भगवान्‌ने उपर्युक्त प्रकरणमें दार्शनिक नामोंका प्रयोग न करके सबके अनुभवके अनुसार 'शरीर और शरीरी, देह और देही' आदि नामोंका प्रयोग किया है। कारण यह है कि भगवान् मनुष्यको कोरा दार्शनिक विद्वान् न बनाकर अनुभव कराना चाहते हैं।)

[सत्-असत्‌के विवेकसे जिस तत्त्वकी प्राप्ति होती है, उसी तत्त्वकी प्राप्ति स्वधर्मपालनसे भी हो जाती है, यह बतानेके लिये भगवान् कहते हैं—] 'हे पार्थ! अपने क्षात्रधर्मके अनुसार तुम्हारे लिये युद्ध करना ही कर्तव्य है। इसलिये अपने कर्तव्यसे तुम्हें कभी विमुख नहीं होना चाहिये; क्योंकि धर्ममय युद्धसे बढ़कर क्षत्रियके लिये दूसरा कोई कल्याणकारक कर्म नहीं है। यह युद्ध तुमलोगोंको अपने-आप (तुमलोगोंकी इच्छाके बिना) प्राप्त हुआ है। अपने-आप प्राप्त हुए धर्ममय युद्धमें जो क्षत्रिय शूरवीरतासे लड़ते हुए मरता है, उसके लिये स्वर्गका दरवाजा खुला हुआ रहता है। अतः ऐसा धर्ममय युद्ध जिनको प्राप्त हुआ है, उनको बड़ा भाग्यशाली मानना चाहिये। यदि तुम युद्ध नहीं करोगे तो क्षात्रधर्मका त्याग होनेसे तुम्हें पाप लगेगा और तुम्हारी कीर्तिका भी नाश होगा। सब लोग तुम्हारी निन्दा करेंगे। सम्मानित मनुष्यके लिये वह अपकीर्ति मरणसे भी अधिक दुःखदायी होती है। इसके सिवाय बड़े-बड़े महारथीलोग ऐसा मानेंगे कि अर्जुन युद्धसे डर गया है। इस प्रकार जिनकी दृष्टिमें तुम बहुत आदरणीय हो चुके हो, उनकी दृष्टिमें तुम गिर जाओगे। इसके सिवाय तुम्हारे शत्रुलोग तुम्हारे सामर्थ्यकी निन्दा करते हुए न कहनेयोग्य बातें कहेंगे। इससे बढ़कर तुम्हारे लिये और दुःखकी बात क्या होगी? अतः युद्ध करनेमें लाभ-ही-लाभ है। यदि युद्धमें तुम मारे भी जाओगे तो स्वर्ग चले जाओगे और यदि तुम्हारी जीत हो जायगी तो यहाँ पृथ्वीका राज्य भोगोगे। इस तरह तुम्हारे तो दोनों ही हाथोंमें लड्डू है। अतः तुम युद्धके लिये निश्चय करके खड़े हो जाओ।

[भगवान् व्यवहारमें परमार्थकी कला बताते हुए अर्जुनसे कहते हैं—] जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखमें समता रखकर तुम अपने युद्धरूप कर्तव्यका पालन करो। ऐसा करनेसे तुम्हें पाप नहीं लगेगा। यह समता ज्ञानयोग और कर्मयोग—दोनों साधनोंसे प्राप्त की जा सकती है। मैंने 'ज्ञानयोग' (शरीर-शरीरीके विवेक) में तो इस समताका वर्णन कर दिया है, अब मैं इसे 'कर्मयोग' के विषयमें कहता हूँ। इस समताकी चार विशेषताएँ हैं—१. समतामें स्थित होकर कर्म करनेसे मनुष्य कर्मोंसे नहीं बँधता, २. इस समताको प्राप्त करनेका केवल उद्देश्य हो जाय तो भी उसका नाश नहीं होता, ३. इसके अनुष्ठानमें यदि कोई भूल भी हो जाय तो उसका उल्टा फल नहीं होता और ४. समताका थोड़ा-सा भी भाव बन जाय तो वह जन्म-मरणरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है अर्थात् कल्याण कर देता है।

हे कुरुनन्दन! समता परमात्माका स्वरूप है। उस परमात्माको प्राप्त करनेका जो एक निश्चय है, उसका नाम है—व्यवसायात्मिका अर्थात् एक निश्चयवाली बुद्धि। यह बुद्धि एक ही होती है। परन्तु जिनका एक निश्चय नहीं होता, उनमें कामनाके कारण अनन्त बुद्धियाँ होती हैं। ऐसे मनुष्य कामनाओंमें ही रचे-पचे रहते हैं। वे स्वर्गको ही श्रेष्ठ मानते हैं और वेदोंका तात्पर्य केवल भोगोंकी तथा स्वर्गकी प्राप्तिमें मानते हैं। वे वेदोंकी उसी वाणीकी महिमा गाया करते हैं, जिसमें संसार तथा उसके भोगोंका वर्णन है और जो जन्म-मरण देनेवाली है। ऐसी वाणीसे जिसका चित्त भोगोंकी तरफ खिंच गया है और जो सांसारिक भोग भोगने तथा संग्रह करनेमें ही आसक्त हैं, ऐसे मनुष्य परमात्मप्राप्ति करना तो दूर रहा, परमात्मप्राप्तिका एक निश्चय भी नहीं कर सकते। इसलिये हे अर्जुन! तुम सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके कार्यरूप संसारकी कामनाका त्याग करके संसारसे ऊँचा उठ जाओ,

राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित हो जाओ, नित्य-निरन्तर रहनेवाले परमात्मतत्त्वमें स्थित हो जाओ, योगक्षेम* की इच्छा भी मत रखो और केवल परमात्माके ही परायण हो जाओ। इसका परिणाम यह होगा कि जैसे बड़ा सरोवर मिल जानेके बाद मनुष्यको छोटे गड्ढोंमें भरे जलकी जरूरत नहीं रहती, ऐसे ही परमात्मतत्त्वको जाननेवाले ब्रह्मज्ञानीको वेदोंमें वर्णित पुण्यकर्मोंकी कोई जरूरत नहीं रहती।

प्राप्त कर्तव्य-कर्म करनेमें ही तुम्हारा अधिकार है अर्थात् कर्म करनेमें तुम स्वतंत्र हो। परन्तु कर्मके फलमें तुम्हारा किंचिन्मात्र भी अधिकार नहीं है अर्थात् इसमें तुम स्वतंत्र नहीं हो। इसलिये कर्म न करने (प्रमाद, आलस्य आदि)-में तुम्हारी आसक्ति नहीं होनी चाहिये और तुम्हें शरीरादि कर्म-सामग्रीमें ममता करके कर्मफलका हेतु भी नहीं बनना चाहिये। तात्पर्य है कि 'करना' मनुष्यके अधीन है और 'होना' प्रारब्धके अधीन है। इसलिये मनुष्यको करनेमें सावधान और होनेमें प्रसन्न रहना चाहिये।

हे धनंजय! तुम आसक्तिका त्याग करके कर्मोंकी सिद्धि अथवा असिद्धिमें सम हो जाओ। फिर उस समतामें हरदम स्थित रहते हुए ही कर्तव्य-कर्मको करो। इस समताको ही 'योग' कहा जाता है। सम्पूर्ण कर्मोंमें समता ही श्रेष्ठ है। समताकी अपेक्षा सकामभावसे कर्म करना अत्यंत ही निकृष्ट (नीचा) है। कारण कि समता तो परमात्माकी प्राप्ति करानेवाली है, पर सकामकर्म जन्म-मरण देनेवाला है। इसलिये हे धनंजय! तुम निरंतर समतामें ही स्थित रहो; क्योंकि कर्म, कर्मफल और शरीरादिसे सम्बन्ध जोड़नेवाले अत्यन्त निकृष्ट हैं। समतामें स्थित रहनेवाला मनुष्य जीवित-अवस्थामें ही पाप-पुण्यसे रहित हो जाता है। इसलिये तुम समतामें स्थित हो जाओ; क्योंकि कर्मोंमें योग ही कुशलता है अर्थात् कर्मोंकी सिद्धि-असिद्धिमें और उनके फलकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें सम रहना ही कर्मोंमें कुशलता है, बुद्धिमानी है। कर्मोंका महत्त्व नहीं है, अपितु योग (समता)-का ही महत्त्व है। कारण कि समतावाला बुद्धिमान् साधक संसारसे असंग होकर जन्म-मरणरूप बंधनसे सदाके लिये मुक्त होकर परमपदको प्राप्त हो जाता है।

जिस समय तुम्हारी बुद्धि मोहरूपी दलदलसे भलीभाँति तर जायगी, उसी समय तुम्हें इस लोकके तथा परलोकके सम्पूर्ण भोगोंसे वैराग्य हो जायगा। जिस समय अनेक प्रकारके (द्वैत-अद्वैत आदि) शास्त्रीय मतभेदोंसे भी तुम्हारी बुद्धि तर जायगी और 'मुझे केवल परमात्माको ही प्राप्त करना है'—इस प्रकार परमात्मामें बुद्धि अचल हो जायगी, उस समय तुम्हें योगकी प्राप्ति हो जायगी अर्थात् तुम्हें परमात्माके साथ नित्ययोगका अनुभव हो जायगा।

भगवान्‌की बात सुनकर अर्जुन भगवान्‌से चार प्रश्न करते हैं—'हे केशव! योगको प्राप्त हुए स्थिर बुद्धिवाले पुरुषके क्या लक्षण होते हैं? वह कैसे बोलता है? कैसे बैठता है? और कैसे चलता (व्यवहार करता) है?'

अर्जुन तो बोलना, चलना आदि क्रियाओंकी प्रधानताको लेकर प्रश्न करते हैं, पर भगवान् भावकी प्रधानताको लेकर उत्तर देते हैं; क्योंकि क्रियाओंमें भाव ही मुख्य होता है। श्रीभगवान् बोले—

(पहले प्रश्नका उत्तर—) हे पार्थ! जिस समय साधक मनमें आनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंका सर्वथा त्याग कर देता है और अपने-आपसे अपने-आपमें ही संतुष्ट रहता है, उस समय वह स्थिरबुद्धि कहलाता है।

---

* अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिका नाम 'योग' है और प्राप्त वस्तुकी रक्षाका नाम 'क्षेम' है।

(दूसरे प्रश्नका उत्तर—) कितने ही दु:ख आनेपर जिसके मनमें हलचल नहीं होती और कितना ही सुख मिलनेपर जिसके मनमें 'ऐसा सुख बना रहे और मिलता भी रहे'—ऐसी स्पृहा नहीं होती तथा जो राग, भय और क्रोधसे सर्वथा रहित हो गया है, वह मननशील पुरुष स्थिरबुद्धि कहलाता है। जिसकी कहीं भी आसक्ति नहीं है और जो अनुकूल परिस्थिति आनेपर प्रसन्न तथा प्रतिकूल परिस्थिति आनेपर दु:खी नहीं होता, उसकी बुद्धि स्थिर है।

(तीसरे प्रश्नका उत्तर—) जिस प्रकार कछुआ अपने अंगोंको सब ओरसे समेट लेता है, उसी प्रकार जब कर्मयोगी अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंको अपने-अपने विषयोंसे हटा लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है। परन्तु इन्द्रियोंका विषयोंसे हट जाना ही स्थितप्रज्ञका लक्षण नहीं है। कारण कि इन्द्रियोंको विषयोंसे हटानेपर भी साधककी भोगोंमें रसबुद्धि (सूक्ष्म आसक्ति) बनी रहती है। परन्तु परमात्मतत्त्वका अनुभव होनेपर स्थितप्रज्ञ मनुष्यकी भोगोंमें रसबुद्धि सर्वथा निवृत्त हो जाती है। कारण कि रसबुद्धि रहनेसे विद्वान् मनुष्यकी भी प्रमथनशील इन्द्रियाँ उसके मनको जबर्दस्ती विषयोंकी तरफ खींच ले जाती हैं। इसलिये कर्मयोगी साधक अपनी इन्द्रियोंको वशमें करके मेरे परायण हो जाय; क्योंकि जिसकी इन्द्रियाँ वशमें हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर है। मेरे परायण न होनेसे विषयोंका चिन्तन होता है। विषयोंका चिन्तन होनेसे उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है। आसक्तिसे कामना पैदा होती है। कामनामें बाधा लगनेपर क्रोध पैदा होता है। क्रोधसे मूढ़ता छा जाती है। मूढ़ता छा जानेसे 'मुझे अपना कल्याण करना है', यह स्मृति नष्ट हो जाती है। स्मृति नष्ट होनेपर बुद्धिमें प्रकट होनेवाला विवेक लुप्त हो जाता है अर्थात् मनुष्यमें नया विचार करनेकी शक्ति नहीं रहती। विवेक लुप्त होनेपर मनुष्य अपनी स्थितिसे गिर जाता है। इस प्रकार विषयभोगोंको भोगना तो दूर रहा, उनका रागपूर्वक चिन्तन करनेमात्रसे मनुष्य पतनकी ओर चला जाता है।

(चौथे प्रश्नका उत्तर—) जिसका अन्त:करण अपने वशमें है और जिसकी इन्द्रियाँ राग-द्वेषसे रहित तथा अपने वशमें की हुई हैं, ऐसा साधक इन्द्रियोंसे विषयोंका सेवन करता हुआ अन्त:करणकी निर्मलताको प्राप्त हो जाता है। कारण कि वह इन्द्रियोंसे विषयोंका सेवन अर्थात् व्यवहार तो करता है, पर भोग नहीं करता। अन्त:करण निर्मल होनेसे उसके सम्पूर्ण दु:ख मिट जाते हैं और वह स्वयं बहुत जल्दी परमात्मामें स्थिर हो जाता है। परन्तु जिसका मन और इन्द्रियाँ संयमित नहीं हैं, ऐसे असंयमी मनुष्यकी 'मुझे केवल परमात्मप्राप्ति ही करनी है', ऐसी एक निश्चयवाली बुद्धि नहीं होती। एक निश्चयवाली बुद्धि न होनेसे उस मनुष्यमें निष्कामभाव अथवा कर्तव्यपरायणताका भाव भी नहीं होता। निष्कामभाव न होनेसे उसे शान्ति नहीं मिलती; क्योंकि अशान्तिका मूल कारण कामना ही है। शान्तिरहित मनुष्यको कभी सुख नहीं मिल सकता। कारण कि जिस इन्द्रियका अपने विषयमें राग हो जाता है, उस विषयमें उसका मन भी खिंच जाता है। जब मनमें उस विषयका महत्त्व बैठ जाता है, तब जैसे जलमें चलती हुई नौकाको वायु हर लेती है, ऐसे ही वह मन साधककी बुद्धिको हरकर उसे भोगोंमें लगा देता है, जिससे साधकमें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं रहती। इसलिये हे महाबाहो! जिसकी इन्द्रियाँ पूरी तरहसे वशमें की हुई हैं, जिसके मन और इन्द्रियोंमें संसारका आकर्षण नहीं रहा है, उसीकी बुद्धि स्थिर है।

जिनका मन और इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, जो भोगोंमें आसक्त हैं, उनकी जो रात (परमात्मासे विमुखता) है, वह संयमी साधककी दृष्टिमें दिनके प्रकाशकी तरह है। परन्तु भोगोंमें आसक्त मनुष्य जिसको दिनके प्रकाशकी तरह मानते हैं, तत्त्वज्ञ मननशील संयमी साधककी दृष्टिमें वह रातके अन्धकारकी तरह है। जैसे समुद्रमें सम्पूर्ण नदियोंका जल आकर मिलता है, फिर भी समुद्र अपनी मर्यादामें स्थित

रहता है, ऐसे ही परमात्मतत्त्वको जाननेवाले संयमी मनुष्यको सम्पूर्ण सांसारिक भोग प्राप्त होनेपर भी उसमें हर्ष-शोक आदि कोई विकार पैदा नहीं होता। ऐसे निष्काम मनुष्यको परमशान्ति प्राप्त हो जाती है। परन्तु जिसके भीतर भोगोंकी कामना है, उसे कितनी ही सांसारिक वस्तुएँ प्राप्त हो जायँ तो भी उसे कभी शान्ति प्राप्त नहीं होती। इसलिये जो मनुष्य कामना, स्पृहा*, ममता और अहंकारसे सर्वथा रहित हो जाता है, वह शान्तिको प्राप्त हो जाता है। हे पार्थ! यह 'ब्राह्मी स्थिति' अर्थात् ब्रह्मको प्राप्त हुए मनुष्यकी स्थिति है। इस स्थितिको प्राप्त होनेपर फिर कभी मोह नहीं होता। यदि कोई मनुष्य अन्तकालमें भी इसमें स्थित हो जाय अर्थात् अहंता-ममतारहित हो जाय तो वह जन्म-मरणसे मुक्त हो जाता है।

हरिः ॐ तत्सत्! *हरिः ॐ तत्सत्!!* *हरिः ॐ तत्सत्!!!*

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

तीसरा अध्याय

(कर्मयोग)

यह नियम है कि अपना आग्रह रखनेसे श्रोता वक्ताकी बातोंका आशय भलीभाँति नहीं समझ पाता। अर्जुन भी अपना (युद्ध न करनेका) आग्रह रखनेसे भगवान्‌के वचनोंका आशय भलीभाँति नहीं समझ सके। इसलिये वे भगवान्‌से पूछते हैं—'हे जनार्दन! यदि आप कर्मसे ज्ञानको श्रेष्ठ मानते हैं तो फिर हे केशव! मुझे ज्ञानमें न लगाकर युद्ध-जैसे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं? आपके मिले हुए-से वचनोंसे मेरी बुद्धि मोहित हो रही है, जिससे मैं यह नहीं समझ पा रहा हूँ कि मुझे कर्म करने चाहिये या कर्म छोड़कर ज्ञानका आश्रय लेना चाहिये। अतः आप निश्चय करके मेरे लिये एक बात कहिये, जिससे मेरा कल्याण हो जाय।'

श्रीभगवान् बोले—'हे निष्पाप अर्जुन! मनुष्योंके लिये मैंने दो प्रकारके लौकिक साधन बताये हैं—ज्ञानयोग और कर्मयोग (भक्तियोग अलौकिक साधन है)। इन दोनों ही साधनोंमें कर्म करना आवश्यक है; क्योंकि कर्मोंका त्याग करनेमात्रसे साधक कर्म-बन्धनसे नहीं छूट सकता। वास्तवमें मनुष्य कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर भी नहीं सकता; क्योंकि शरीरमें अहंता-ममता (मैं-मेरापन) रहते हुए कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। जो मूर्ख मनुष्य बाहरसे तो अपनी इन्द्रियोंको हठपूर्वक रोककर अपनेको क्रियारहित मान लेता है, पर मनसे भोगोंका चिन्तन करता है, वह मिथ्याचारी कहलाता है। तात्पर्य है कि बाहरसे कर्मोंका त्याग करनेपर कोई कर्मरहित नहीं हो सकता। परन्तु हे अर्जुन! जो मनुष्य अपनी इन्द्रियोंको वशमें करके निष्कामभावसे कर्तव्य-कर्मका पालन करता है, वह (कर्मयोगी) श्रेष्ठ है। इसलिये तुम अपने वर्ण-आश्रम आदिके अनुसार अपने कर्तव्य-कर्मका पालन करो; क्योंकि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। कर्म न

---

* कामनाका त्याग होनेपर भी शरीर-निर्वाहमात्रके लिये कुछ-न-कुछ वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ आदिकी आवश्यकता रह जाती है, जिसको 'स्पृहा' कहते हैं।

करनेसे तो तुम्हारा शरीर-निर्वाह भी नहीं होगा।

कर्तव्यमात्रका नाम 'यज्ञ' है। जो मनुष्य 'यज्ञ' (कर्तव्य-कर्म) नहीं करता अर्थात् दूसरोंके हितके लिये कर्म न करके केवल अपने लिये (सकामभावसे) कर्म करता है, वही कर्मोंसे बँधता है। इसलिये हे कुन्तीनन्दन! तुम दूसरोंके हितके लिये ही कर्तव्य-कर्म करो। प्रजापति ब्रह्माजीने सृष्टिके आरम्भमें कर्तव्य-कर्मकी योग्यता और विवेक-सहित मनुष्योंकी रचना करके उनसे कहा कि तुम लोग अपने-अपने कर्तव्य-कर्मोंद्वारा सबकी उन्नति करो। ऐसा करनेसे तुमलोगोंको कर्तव्य-कर्म करनेकी आवश्यक सामग्री प्राप्त होती रहेगी। अपने कर्तव्य-कर्मके द्वारा तुमलोग देवताओंको उन्नत करो और वे देवतालोग अपने कर्तव्यके द्वारा तुम्हें उन्नत करें। इस प्रकार परस्पर एक-दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे। यज्ञसे पुष्ट हुए देवतालोग भी तुमलोगोंको बिना माँगे ही कर्तव्य-पालनकी आवश्यक सामग्री देते रहेंगे। परन्तु उन देवताओंकी दी हुई सामग्रीको जो मनुष्य दूसरोंकी सेवामें न लगाकर अर्थात् दूसरोंको उनका भाग न देकर स्वयं अकेले ही उसका उपभोग करता है, वह चोर ही है। कारण कि शरीर आदि जो कुछ भी हमारे पास है, वह सब हमें संसारसे ही मिला है। संसारसे मिली वस्तुको केवल अपनी स्वार्थसिद्धिमें लगाना ईमानदारी नहीं है।

निष्कामभावसे अपने कर्तव्यका पालन करनेसे योग (समता)-की प्राप्ति होती है। यह योग ही 'यज्ञशेष' है। जो मनुष्य इस यज्ञशेषका अनुभव कर लेता है, वह सम्पूर्ण पापोंसे छूटकर मुक्त हो जाता है। परन्तु जो संसारसे मिली हुई वस्तुओंको संसारकी सेवामें न लगाकर अपने सुखभोगमें लगाता है, वह पापी मनुष्य केवल पाप ही कमाता है।

परमात्मासे वेद प्रकट होते हैं। वेद कर्तव्य-कर्मोंको करनेकी विधि बताते हैं। मनुष्य उस कर्तव्यका विधिपूर्वक पालन करते हैं। कर्तव्य-कर्मोंके पालनसे यज्ञ होता है। यज्ञसे वर्षा होती है। वर्षासे अन्न उत्पन्न होता है। अन्नसे सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं और उन्हीं प्राणियोंमेंसे मनुष्य कर्तव्य-कर्मोंके पालनसे यज्ञ करते हैं। इस तरह यह सृष्टि-चक्र चल रहा है। परमात्मा सर्वव्यापी होनेपर भी विशेषरूपसे 'यज्ञ' (कर्तव्य-कर्म)-में सदा विद्यमान रहते हैं। इसलिये मनुष्य निष्कामभावसे अपने कर्तव्यका पालन करके उन्हें सुगमतापूर्वक प्राप्त कर सकते हैं। हे पार्थ! जो मनुष्य इस सृष्टि-चक्रके अनुसार अपने कर्तव्यका पालन न करके भोगोंमें ही लगा रहता है, उस पापी मनुष्यका संसारमें जीना ही व्यर्थ है। तात्पर्य है कि यदि वह अपने कर्तव्यका पालन करके सृष्टिको सुख नहीं पहुँचाता तो कम-से-कम दुःख तो न पहुँचाये। *[जिस तरह गतिशील बैलगाड़ीका कोई एक पहिया भी खण्डित हो जाय तो उससे पूरी बैलगाड़ीको झटका लगता है, इसी तरह गतिशील सृष्टि-चक्रमें कोई एक मनुष्य भी अपने कर्तव्यसे गिरता है तो उसका उल्टा प्रभाव पूरी सृष्टिपर पड़ता है। इसके विपरीत जैसे शरीरका एक भी बीमार अंग ठीक होनेपर पूरे शरीरका स्वतः हित होता है, ऐसे ही एक भी मनुष्य अपने कर्तव्यका ठीक-ठीक पालन करता है तो उसके द्वारा पूरी सृष्टिका स्वतः हित होता है।]*

जिसने अपने कर्तव्यका पालन करके संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है, उस (कर्मयोगसे सिद्ध) महापुरुषकी प्रीति, तृप्ति और सन्तुष्टि संसारमें न होकर अपने स्वरूपमें ही होती हैं। ऐसे महापुरुषके लिये कुछ भी करना, जानना अथवा पाना शेष नहीं रहता। उसका इस संसारमें न तो कर्म करनेसे कोई मतलब रहता है और न कर्म नहीं करनेसे ही कोई मतलब रहता है। उसका किसी भी प्राणी और पदार्थसे किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता। इसलिये तुम भी निरन्तर आसक्तिरहित रहते हुए अपने कर्तव्य-कर्मका पालन करो; क्योंकि जो मनुष्य कुछ भी कामना न

रखकर कर्तव्य-कर्म करता है, वह परमात्माको प्राप्त कर लेता है।

कर्मयोग परमात्मप्राप्तिका स्वतंत्र साधन है। राजा जनक-जैसे अनेक महापुरुष गृहस्थमें रहकर भी आसक्ति-रहित होकर कर्म करके (कर्मयोगके द्वारा) परमात्माको प्राप्त कर चुके हैं; क्योंकि उन्होंने केवल दूसरोंकी सेवाके लिये ही राज्य किया, अपने सुखके लिये नहीं। इसलिये तुम्हें भी आसक्ति-रहित होकर कर्म करके लोगोंमें आदर्श स्थापित करना चाहिये। कारण कि जिस समाज, सम्प्रदाय आदिमें जो श्रेष्ठ मनुष्य कहलाता है और जिसे लोग आदरकी दृष्टिसे देखते हैं, वह जो-जो आचरण करता है, उस समाज आदिके दूसरे मनुष्य भी वैसा-वैसा ही आचरण करने लग जाते हैं। वह अपने वचनोंसे जो कुछ कहता है, दूसरे मनुष्य भी उसीके अनुसार आचरण करने लग जाते हैं। हे पार्थ! यद्यपि मुझे तीनों लोकोंमें कुछ भी करना और पाना शेष नहीं है, फिर भी मैं दूसरोंके हितके लिये कर्तव्य-कर्म करनेमें लगा रहता हूँ। कारण कि हे पार्थ! यदि मैं सावधानीपूर्वक कर्तव्यका पालन न करूँ तो मनुष्य भी मेरा अनुसरण करके कर्तव्य-कर्म करना छोड़ देंगे, जिससे उनका पतन हो जायगा। तात्पर्य है कि अपने कर्तव्यका पालन न करनेसे ही वर्णसंकरता फैलती है। इसलिये तुम्हें भी तत्पर होकर अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये।

हे भारत! कर्मोंमें आसक्ति रखनेवाले अज्ञानी मनुष्य जिस प्रकार सकामभावसे शास्त्रविहित कर्म करते हैं, उसी प्रकार आसक्तिरहित ज्ञानी महापुरुषको भी निष्कामभावसे (दूसरोंके हितके लिये) कर्म करने चाहिये। वह अपने वचनोंसे उन अज्ञानी मनुष्योंकी बुद्धिमें भ्रम पैदा करके उन्हें कर्तव्य-कर्म करनेसे न रोके, अपितु स्वयं भी भलीभाँति कर्तव्य-कर्म करते हुए उनसे भी वैसे ही कर्म करवाये। बन्धनका कारण आसक्ति है, कर्म नहीं।

संसारमें जितनी भी क्रियाएँ हो रही हैं, सब प्रकृतिके सत्त्व, रज और तम—तीनों गुण तथा उनसे उत्पन्न शरीर, इन्द्रियाँ आदिके द्वारा ही हो रही हैं। चेतन (आत्मा) कभी कोई क्रिया नहीं करता। परन्तु अन्तःकरणकी वृत्ति 'अहंकार' के साथ सम्बन्ध मान लेनेके कारण अज्ञानी मनुष्य शरीरमें मैं-मेरापन कर लेता है और शरीरसे होनेवाली क्रियाओंका कर्ता अपनेको मान लेता है कि 'मैं करता हूँ'। हे महाबाहो! जिसने परमात्माको प्राप्त कर लिया है, उस ज्ञानी महापुरुषका शरीर तथा उससे होनेवाली क्रियाओंसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इसलिये वह 'सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं' अर्थात् सम्पूर्ण क्रियाएँ जड़ प्रकृतिमें ही हो रही हैं—ऐसा मानकर उनमें आसक्त नहीं होता। प्रकृतिजन्य गुणोंसे बँधे हुए अज्ञानीलोग पदार्थों और कर्मोंमें आसक्त रहते हैं। ज्ञानी महापुरुषको चाहिये कि वह उन मन्दबुद्धिवाले अज्ञानियोंको सकामभावसे किये जानेवाले शुभ कर्मोंसे न हटाये।

हे अर्जुन! तुम विवेकवती बुद्धिसे विचार करके सम्पूर्ण क्रियाओं और पदार्थोंको मेरे अर्पण कर दो अर्थात् उनको अपने और अपने लिये न मानकर मेरे और मेरे लिये ही मानो। फिर कामना, ममता और संतापसे रहित होकर युद्धरूप कर्तव्य-कर्मको करो। जो मनुष्य दोष-दृष्टिसे रहित होकर श्रद्धापूर्वक मेरे इस सिद्धान्तके अनुसार चलते हैं अर्थात् संसारमें शरीर आदि कुछ भी अपना नहीं है, ऐसा मानते हैं, वे कर्म-बन्धनसे छूट जाते हैं। परन्तु जो मनुष्य मेरे इस सिद्धान्तमें दोषदृष्टि करते हुए इसके अनुसार नहीं चलते, उन सांसारिक विद्याओंमें ही रचे-पचे रहनेवाले अविवेकी मनुष्योंको नष्ट हुए ही समझना चाहिये। वे जन्म-मरणके चक्रमें ही पड़े रहेंगे।

सम्पूर्ण प्राणी अपने-अपने राग-द्वेषयुक्त स्वभावके अनुसार कर्म करते हैं। ज्ञानी महापुरुष भी व्यवहारमें अपने स्वभावके अनुसार क्रिया करता है, पर उसका स्वभाव राग-द्वेषसे रहित, सर्वथा शुद्ध होता है। इस प्रकार जिसका जैसा स्वभाव है, उसके अनुसार उसे कर्म करने ही पड़ेंगे, इसमें

उसका हठ काम नहीं करेगा। प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें अनुकूलताका भाव होनेपर मनुष्यका उस विषयमें 'राग' हो जाता है और प्रतिकूलताका भाव होनेपर उसमें 'द्वेष' हो जाता है। परन्तु मनुष्यको उन राग-द्वेषके वशमें होकर उनके अनुसार कोई क्रिया नहीं करनी चाहिये; क्योंकि वे दोनों ही मनुष्यके पारमार्थिक मार्गमें विघ्न डालनेवाले शत्रु हैं।

दूसरे वर्ण, आश्रम आदिका धर्म (कर्तव्य) बाहरसे कितना ही श्रेष्ठ, सुगम दिखायी दे और अपने वर्ण, आश्रम आदिका धर्म बाहरसे कितना ही कम गुणोंवाला दिखायी दे, तो भी दूसरेके धर्मकी अपेक्षा अपना धर्म श्रेष्ठ और कल्याण करनेवाला है। अपने धर्मका पालन करनेवालेकी यदि मृत्यु भी हो जाय तो उसका कल्याण हो जाता है, पर दूसरेके धर्मका पालन करनेसे परिणाममें भयकी, जन्म-मरणकी प्राप्ति होती है।

अपने कर्तव्यका पालन कल्याणकारक और दूसरेके कर्तव्यका पालन भयदायक है—ऐसा जानते हुए भी मनुष्य अपने कर्तव्यका पालन क्यों नहीं करता? इस बातपर अर्जुनने प्रश्न किया—'हे वार्ष्णेय! यद्यपि विचारशील मनुष्य पाप करना नहीं चाहता, फिर भी वह उस पापमें ऐसे लग जाता है, जैसे कोई उसे जबर्दस्ती पापमें लगा रहा हो। वह दूसरा कौन है, जिससे प्रेरित होकर वह पाप करता है?'

श्री भगवान् बोले—सांसारिक पदार्थोंके संग्रह और सुखभोगकी कामना ही मनुष्यको पापमें लगाती है। यह कामना रजोगुणसे उत्पन्न होती है। कामनामें बाधा लग जाय तो क्रोध उत्पन्न हो जाता है। कितने ही पदार्थ मिल जायँ, पर इस कामनाकी कभी तृप्ति नहीं होती। यह कामना ही सम्पूर्ण पापोंका कारण है। इसलिये इस कामनाको अपना मित्र नहीं, अपितु शत्रु जानो। जैसे धुएँसे आग, मैलसे दर्पण तथा जेरसे गर्भ ढक जाता है, ऐसे ही कामनासे मनुष्यका विवेक ढक जाता है। हे कौन्तेय! जैसे आगमें घी डालते रहनेसे आग कभी शान्त नहीं होती, अपितु बढ़ती ही रहती है, ऐसे ही भोग-पदार्थोंके मिलनेपर भी कामना कभी शान्त नहीं होती, अपितु ज्यों-का-त्यों धन आदि पदार्थ मिलते हैं, त्यों-त्यों उनकी कामना बढ़ती रहती है। इसलिये विवेकको ढकनेवाली यह कामना साधकोंके लिय सदा ही शत्रुके समान है।

किसी शत्रुको नष्ट करनेके लिये उसके रहनेके स्थानोंकी जानकारी होनी आवश्यक है। इसलिये कामनाके रहनेके स्थान बताता हूँ। इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—इस कामनाके रहनेके स्थान हैं। कामना इन तीनोंके द्वारा देहाभिमानी (शरीरको मैं-मेरा माननेवाले) मनुष्यके ज्ञानको ढककर उसे मोहित कर देती है, जिससे उसे अच्छे-बुरेका ज्ञान नहीं रहता। इसलिये हे भरतर्षभ! तुम सबसे पहले इन्द्रियोंको वशमें करके इस विवेकज्ञान और तत्त्वज्ञानको ढकनेवाली तथा सम्पूर्ण पापोंकी जड़ कामनाको अवश्य ही बलपूर्वक मार डालो। स्थूलशरीरसे इन्द्रियाँ पर (श्रेष्ठ, बलवान्, प्रकाशक, व्यापक तथा सूक्ष्म) हैं, इन्द्रियोंसे पर मन है, मनसे भी पर बुद्धि है और बुद्धिसे भी पर कामना है। यह कामना अहम्‌में रहती है। इस तरह इस कामनाके रहनेका मुख्य स्थान 'अहम्' को जानकर अपने द्वारा अपने-आपको वशमें करके (संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करके) हे महाबाहो! तुम इस कामनारूपी दुर्जय शत्रुको मार डालो। कारण कि जबतक संसारके साथ सम्बन्ध रहता है, तभीतक कामना रहती है। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होते ही कामनाओंका नाश हो जाता है।

हरिः ॐ तत्सत्! *हरिः ॐ तत्सत्!!* *हरिः ॐ तत्सत्!!!*

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

चौथा अध्याय

(ज्ञानकर्मसंन्यासयोग)

श्रीभगवान् बोले—मैंने तुम्हें जिस कर्मयोगका उपदेश दिया है, वह कोई नया नहीं है, अपितु अनादि है। इस अविनाशी कर्मयोगका उपदेश मैंने सर्वप्रथम सूर्यको दिया था। फिर सूर्यने अपने पुत्र वैवस्वत मनुको और मनुने अपने पुत्र इक्ष्वाकुको इसका उपदेश दिया। इन सभी राजाओंने गृहस्थमें रहते हुए ही कर्मयोगके द्वारा परमात्मतत्त्वको प्राप्त किया। हे परन्तप! इस प्रकार राजर्षियोंमें इस कर्मयोगकी परम्परा चली। परन्तु बहुत समय बीत जानेके कारण वह कर्मयोग इस मनुष्यलोकमें लुप्तप्राय हो गया है। तुम मेरे भक्त और प्रिय सखा हो, इसलिये वही यह पुरातन कर्मयोग आज मैंने तुमसे कहा है। यह बड़े उत्तम रहस्यकी बात है, जिसे मैं तुम्हारे सामने प्रकट कर रहा हूँ।

भगवान्‌की बात सुनकर अर्जुनके मनमें जिज्ञासा हुई कि श्रीकृष्ण तो अभी मेरे सामने बैठे हैं, फिर इन्होंने सृष्टिके आरम्भमें सूर्यको उपदेश कैसे दिया? अतः अर्जुन भगवान्‌से प्रश्न करते हैं—'आपका जन्म (अवतार) तो अभी कुछ वर्ष पहले वसुदेवजीके घर हुआ है, पर सूर्यका जन्म सृष्टिके आरम्भमें हुआ था, फिर सूर्यको आपने ही कर्मयोगका उपदेश दिया था, यह बात मैं कैसे समझूँ?'

श्रीभगवान् बोले—हे परन्तप अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं, जिनको मैं जानता हूँ, पर तुम नहीं जानते। परन्तु मेरे और तुम्हारे जन्ममें बहुत अंतर है। कारण कि मैं साधारण मनुष्योंकी तरह जन्मने-मरनेवाला नहीं हूँ। मैं 'अजन्मा' होते हुए भी प्रकट हो जाता हूँ और 'अविनाशी' होते हुए भी अन्तर्धान हो जाता हूँ। मैं सम्पूर्ण प्राणियोंका ईश्वर (शासक) होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ और तरह-तरहकी अलौकिक लीलाएँ करता हूँ। हे भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं लोगोंको पतनमें जानेसे रोकनेके लिये साकाररूपसे अवतार लेता हूँ। भक्तोंकी रक्षा करनेके लिये, पापियोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी भलीभाँति स्थापना करनेके लिए मैं आवश्यकताके अनुसार युग-युगमें अवतार लिया करता हूँ। हे अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म—दोनों ही दिव्य, अलौकिक हैं। जो मनुष्य मेरे जन्म और कर्मकी दिव्यताको तत्त्वसे जान लेता है अर्थात् दृढ़तापूर्वक मान लेता है, वह मृत्युके बाद दोबारा जन्म न लेकर मुझे ही प्राप्त हो जाता है। *[भगवान् सम्पूर्ण जीवोंके हितके लिये ही अवतार लेते हैं और सम्पूर्ण क्रियाओंको करते हुए भी निर्लिप्त रहते हैं, ऐसे ही मनुष्यमें भी सम्पूर्ण प्राणियोंके हितका भाव हो जाय और उसके कर्मोंमें निर्लिप्तता (निष्कामभाव) आ जाय,—यही भगवान्‌के जन्म और कर्मको तत्त्वसे जानना है।)* नाशवान् वस्तुओंको अपना और अपने लिये न मानना 'ज्ञानरूप तप' है। इस ज्ञानरूप तपसे पवित्र हुए तथा राग, भय और क्रोधसे सर्वथा रहित, मुझमें ही तल्लीन और मेरे ही आश्रित हुए बहुत-से भक्त मुझे प्राप्त हो चुके हैं। हे पार्थ! जो भक्त जिस प्रकारसे, जिस भावसे, जिस सम्बन्धसे मेरी शरण लेते हैं, मैं भी उनके साथ उसी प्रकारसे, उसी भावसे, उसी सम्बन्धसे बर्ताव करता हूँ। सभी मनुष्य मेरे मार्गका अनुसरण करते हैं, इसलिये मनुष्यको चाहिये कि संसारमें उसके साथ जो जैसा सम्बन्ध मानता है, वह भी उसके साथ वैसा ही सम्बन्ध मानकर निःस्वार्थभावसे उसकी सेवा करे। मेरा ऐसा उदार स्वभाव होनेपर भी सब लोग मेरे शरण नहीं होते—इसका कारण यह है कि उनके भीतर अनेक तरहकी सांसारिक कामनाएँ रहती हैं, जिन्हें पूरी करनेके लिये वे मुझे छोड़कर देवताओंकी उपासना किया करते हैं। कारण कि इस मनुष्यलोकमें कर्मोंसे

होनेवाली तात्कालिक सिद्धि शीघ्र मिल जाती है।

सृष्टि-रचनाके समय मैं ही जीवोंके गुणों और कर्मोंके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—इन चार वर्णोंकी रचना करता हूँ। पर उन सृष्टि-रचना आदि सम्पूर्ण कर्मोंका कर्ता होनेपर भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तुम अकर्ता ही समझो। कारण कि मेरी कर्मोंके फलमें स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझे कर्म बाँधते नहीं। 'कर्तापन और फलेच्छा न होनेपर भी भगवान् केवल कृपा करके जीवोंको कर्म-बन्धनसे रहित करके उनका कल्याण करनेके लिये ही सृष्टि-रचना आदि कार्य करते हैं'—इस प्रकार जो मुझे तत्त्वसे जान लेता है, वह भी कर्तापन और फलेच्छाका त्याग करके कर्म करता है, जिससे वह कर्मोंसे नहीं बँधता। अपनी मुक्ति चाहनेवाले जो साधक पहले हो चुके हैं, उन्होंने भी इस प्रकार कर्तापन और फलेच्छाका त्याग करके अपने-अपने कर्तव्य-कर्मोंका पालन किया है और मोक्ष प्राप्त किया है। इसलिये तुम्हें भी उनकी ही तरह अपने कर्तव्य-कर्मका पालन करना चाहिये।

कर्म क्या है और अकर्म क्या है, इन दोनोंका तत्त्व जाननेमें बड़े-बड़े विद्वानोंकी बुद्धि भी चकरा जाती है। इसलिये मैं इन दोनोंका तत्त्व तुम्हें बताऊँगा, जिसको जानकर तुम कर्म करते हुए भी जन्म-मरणसे मुक्त हो जाओगे। कर्म करते हुए निर्लिप्त रहना 'कर्म' के तत्त्वको जानना है। निर्लिप्त रहते हुए कर्म करना 'अकर्म' के तत्त्वको जानना है। शास्त्रनिषिद्ध कर्म और उसका कारण कामना—इन दोनोंका त्याग करना 'विकर्म' (पापकर्म) के तत्त्वको जानना है। इस प्रकार कर्म, अकर्म और विकर्म—इन तीनोंको ही तत्त्व जानना चाहिये। इन तीनोंके तत्त्वको जाननेमें बड़े-बड़े विद्वान् भी अपने-आपको असमर्थ पाते हैं; क्योंकि कर्मोंकी गति (ज्ञान या तत्त्व) बड़ी गहन है। परन्तु जो मनुष्य 'कर्ममें अकर्म' देखता है अर्थात् कर्म करते हुए अथवा न करते हुए भी निर्लिप्त रहता है और जो मनुष्य 'अकर्ममें कर्म' देखता है अर्थात् निर्लिप्त रहते हुए ही कर्म करता है अथवा नहीं करता, वही वास्तवमें सम्पूर्ण मनुष्योंमें बुद्धिमान् है, वही वास्तवमें योगी है और वही वास्तवमें सम्पूर्ण कर्मोंको करनेवाला (कृतकृत्य) है। उस कर्मयोगीके लिये कुछ भी करना, जानना और पाना बाकी नहीं रहता।

कर्मयोगसे सिद्ध हुए महापुरुषके द्वारा जो भी कर्म होते हैं, वे सब संकल्प और कामनासे रहित होते हैं। कर्मोंका सम्बन्ध शरीर-संसारके साथ है, स्वरूपके साथ नहीं—इस ज्ञानरूपी अग्निसे उसके सम्पूर्ण कर्म भस्म हो जाते हैं अर्थात् उन कर्मोंमें फल देने (बाँधने)-की शक्ति नहीं रहती। ऐसे महापुरुषको ज्ञानीलोग भी बुद्धिमान् कहते हैं। तात्पर्य है कि वह कर्मयोगी ज्ञानियोंका भी ज्ञानी है। जो कर्म तथा उसके फलमें आसक्तिका त्याग कर देता है; जो किसी भी वस्तु, व्यक्ति आदिका आश्रय नहीं लेता; और मनमें कोई भी इच्छा न रहनेसे जो सदा तृप्त रहता है, वह भलीभाँति सब कर्म करते हुए भी वास्तवमें कुछ भी नहीं करता। उसके सब कर्म अकर्म हो जाते हैं।

जिस (निवृत्तिपरायण) कर्मयोगी साधकका शरीर और अन्त:करण भलीभाँति वशमें किया हुआ है और जिसने सब प्रकारके संग्रहका तथा भोग-पदार्थोंकी इच्छाका त्याग कर दिया है, वह केवल शरीर-निर्वाहके लिये खान-पान, शौच-स्नान आदि कर्म करते हुए भी पापको प्राप्त नहीं होता। जो (प्रवृत्तिपरायण) कर्मयोगी फलकी इच्छाके बिना अपने-आप जो कुछ मिल जाय, उसीमें संतुष्ट रहता है; जिसका किसी भी प्राणीसे ईर्ष्याका भाव नहीं रहता; जो सुख-दु:ख आदि द्वन्द्वोंसे रहित होता है; और जो कर्मोंका फल मिलने अथवा न मिलनेमें सम रहता है, वह कर्म करते हुए भी उनसे नहीं बँधता। जिस कर्मयोगीकी संसारमें आसक्ति सर्वथा मिट गयी है, जो स्वाधीन हो गया है, जिसकी बुद्धिमें स्वरूपका ज्ञान नित्य-निरन्तर जाग्रत् रहता है अर्थात् जिसे स्वरूपमें स्थितिका अनुभव हो गया

है, ऐसे नि:स्वार्थभावसे केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेवाले कर्मयोगीके सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं।

[*नि:स्वार्थभावसे केवल दूसरोंके हितके लिये कर्तव्य-कर्म करनेका नाम 'यज्ञ' है। यज्ञसे सभी कर्म अकर्म हो जाते हैं अर्थात् बाँधनेवाले नहीं होते। अब भगवान् साधकोंकी रुचि, विश्वास और योग्यताकी भिन्नताके अनुसार बारह प्रकारके भिन्न-भिन्न यज्ञोंका वर्णन करते हैं—*]

१. **ब्रह्मयज्ञ—**जिस पात्रसे अग्निमें आहुति दी जाय, वह भी ब्रह्म है; जिन पदार्थोंकी आहुति दी जाय, वे भी ब्रह्म हैं; आहुति देनेवाला भी ब्रह्म है; जिसमें आहुति दी जा रही है, वह अग्नि भी ब्रह्म है और आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म है—इस प्रकार जिसकी सम्पूर्ण कर्मोंमें ब्रह्मबुद्धि हो जाती है, उसे ब्रह्मकी ही प्राप्ति होती है। तात्पर्य है कि प्रत्येक कर्ममें कर्ता, करण, क्रिया, पदार्थ आदि सबको ब्रह्मरूपसे अनुभव करना 'ब्रह्मयज्ञ' है।

२. **भगवदर्पणरूप यज्ञ—**सम्पूर्ण क्रियाओं और पदार्थोंको केवल भगवान्‌का और भगवान्‌के लिये ही मानना।

३. **अभिन्नतारूप यज्ञ—**असत्‌से सर्वथा विमुख होकर परमात्मामें लीन हो जाना अर्थात् परमात्मासे भिन्न अपनी स्वतंत्र सत्ता न रखना।

४. **संयमरूप यज्ञ—**एकान्तकालमें अपनी इन्द्रियोंको विषयोंमें प्रवृत्त न होने देना।

५. **विषय-हवनरूप यज्ञ—**व्यवहारकालमें इन्द्रियोंका विषयोंसे संयोग होनेपर भी उनमें राग-द्वेष न होने देना।

६. **समाधिरूप यज्ञ—**मन-बुद्धिसहित सम्पूर्ण इन्द्रियों और प्राणोंकी क्रियाओंको रोककर ज्ञानसे प्रकाशित समाधिमें स्थित हो जाना।

७. **द्रव्ययज्ञ—**सम्पूर्ण पदार्थोंको नि:स्वार्थभावसे दूसरोंकी सेवामें लगा देना।

८. **तपोयज्ञ—**अपने कर्तव्यके पालनमें आनेवाली कठिनाइयोंको प्रसन्नतापूर्वक सह लेना।

९. **योगयज्ञ—**कार्यकी सिद्धि-असिद्धिमें तथा फलकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें सम रहना।

१०. **स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ—**दूसरोंके हितके लिये सत्-शास्त्रोंका पठन-पाठन, नाम-जप आदि करना।

११. **प्राणायामरूप यज्ञ—**पूरक, कुम्भक और रेचकपूर्वक प्राणायाम करना। [*श्वासको भीतर लेना 'पूरक', श्वासको भीतर रोकना 'कुम्भक' तथा श्वासको बाहर निकालना 'रेचक' कहलाता है।*]

१२. **स्तम्भवृत्ति (चतुर्थ) प्राणायामरूप यज्ञ—**नियमित आहार लेते हुए प्राण और अपानको अपने-अपने स्थानोंपर रोक देना।

—उपर्युक्त साधन करनेवाले सभी साधकोंके सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं और उन्हें परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। हे कुरुवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! यज्ञ करनेवाला मनुष्य अमर हो जाता है और उसे परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। परन्तु जो मनुष्य यज्ञ नहीं करता अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, वह इस लोकमें भी सुख नहीं पाता, फिर परलोकमें सुख कैसे पायेगा? पहले कहे हुए बारह यज्ञोंके सिवाय और भी अनेक प्रकारके यज्ञोंका वेदोंमें विस्तारसे वर्णन किया गया है। वे सब-के-सब यज्ञ कर्मोंसे होनेवाले हैं। परन्तु जो कर्म करते हुए भी उससे निर्लिप्त रहनेकी विद्या जान लेता है कि वास्तवमें कर्म नहीं बाँधते, अपितु कर्म तथा उसके फलमें आसक्ति ही

बाँधती है, वह कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

हे परन्तप अर्जुन! जिन यज्ञोंमें कर्मों और पदार्थोंकी आवश्यकता होती है, उन सभी 'द्रव्यमय' यज्ञोंसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। कारण कि ज्ञानयज्ञमें सम्पूर्ण कर्मों और पदार्थोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। यदि तुम कर्मोंका त्याग करके ज्ञान प्राप्त करनेको ही श्रेष्ठ मानते हो तो तुम किसी तत्त्वदर्शी (अनुभवी) तथा ज्ञानी (शास्त्रज्ञ) महापुरुषके पास जाओ, उन्हें साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करके अपने-आपको उनके समर्पित कर दो, उनकी सेवा करो और परमात्मतत्त्वको जाननेके लिये विनम्रतापूर्वक उनसे प्रश्न करो। ऐसा करनेसे वे तुम्हें तत्त्वज्ञानका उपदेश देंगे। उस तत्त्वज्ञानका अनुभव करनेके बाद फिर तुम्हें कभी मोह नहीं होगा। कारण कि तत्त्वज्ञान अथवा अज्ञानका नाश एक ही बार होता है और सदाके लिये होता है।

तत्त्वज्ञान होते ही पहले ऐसा अनुभव होगा कि सम्पूर्ण प्राणी मेरी सत्ताके अंतर्गत हैं। फिर ऐसा अनुभव होगा कि मेरी सत्तासहित सम्पूर्ण प्राणी एक परमात्माके अंतर्गत हैं; एक परमात्माके सिवाय कुछ भी नहीं है। अगर तुम सम्पूर्ण पापियोंमें भी सबसे अधिक पाप करनेवाले हो तो भी तुम तत्त्वज्ञानरूपी नौकाके द्वारा सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे भलीभाँति तर जाओगे। कारण कि पाप कितने ही क्यों न हों, हैं वे असत् ही, जबकि तत्त्वज्ञान सत् है। हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि सम्पूर्ण लकड़ियोंको जलाकर भस्म कर देती है, ऐसे ही ज्ञानरूपी अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको सर्वथा भस्म कर देती है। मनुष्यलोकमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला नि:सन्देह दूसरा कोई साधन नहीं है। परन्तु जिसका कर्मयोग सिद्ध हो गया है, वह उसी तत्त्वज्ञानको दूसरे किसी साधनके बिना स्वयं अपने-आपमें अवश्य ही प्राप्त कर लेता है। तात्पर्य है कि जो ज्ञान गुरुके पास रहकर उनकी सेवा आदि करनेसे होता है, वही ज्ञान कर्मयोगके द्वारा मनुष्यको अपने-आप हो जाता है। यह कर्मयोगकी विशेषता है!

जिसकी इन्द्रियाँ पूरी तरह वशमें हैं और जो अपने साधनमें तत्परतापूर्वक लगा हुआ है, ऐसे श्रद्धावान् मनुष्यको ही ज्ञान प्राप्त होता है। श्रद्धामें कमी होनेसे ही ज्ञान होनेमें देरी लगती है। ज्ञान प्राप्त होनेपर तत्काल परम शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है। परन्तु जो विवेकहीन और श्रद्धारहित है अर्थात् जो न तो खुद जानता है और न दूसरेकी बात ही मानता है, ऐसे संशयात्मा मनुष्यका पारमार्थिक मार्गसे पतन हो जाता है। उसका न तो इस लोकमें भला होता है, न परलोकमें ही भला होता है और न उसके मनमें सुख-शान्ति ही रहती है।

हे धनंजय! योग (समता)-के द्वारा जिसका सम्पूर्ण कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो गया है और विवेकज्ञानके द्वारा जिसके सम्पूर्ण संशयोंका नाश हो गया है, उस कर्मयोगीको कर्म नहीं बाँधते; क्योंकि वह अपने लिये कोई कर्म करता ही नहीं। इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन! हृदयमें स्थित इस अज्ञानसे उत्पन्न अपने संशयका (कि युद्धरूप घोर कर्मसे मेरा कल्याण कैसे होगा?) ज्ञानरूप तलवारसे छेदन करके तुम योग (समता)-में स्थित हो जाओ और युद्धके लिये खड़े हो जाओ। योगमें स्थित होकर युद्ध करनेसे तुम्हें पाप नहीं लगेगा तथा तुम्हारा कल्याण भी हो जायगा।

हरि: ॐ तत्सत्! *हरि: ॐ तत्सत्!!* *हरि: ॐ तत्सत्!!!*

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

पाँचवाँ अध्याय

(कर्मसंन्यासयोग)

चौथे अध्यायमें ज्ञानयोग और कर्मयोग—दोनोंकी प्रशंसा सुनकर अर्जुन यह निर्णय नहीं कर सके कि इन दोनोंमें कौन-सा साधन मेरे लिये श्रेष्ठ है। अत: इसका निर्णय करानेके उद्देश्यसे अर्जुन पूछते हैं—हे कृष्ण! आप पहले कर्मोंका त्याग करनेकी और फिर कर्मयोगकी प्रशंसा करते हैं। अत: इन दोनोंमें कोई एक साधन मेरे लिये कहिये, जो निश्चितरूपसे कल्याण करनेवाला हो।

श्रीभगवान् बोले—यद्यपि ज्ञानयोग और कर्मयोग—दोनों ही कल्याण करनेवाले हैं, तथापि उन दोनोंमें भी ज्ञानयोगसे कर्मयोग श्रेष्ठ है। कारण कि हे महाबाहो! कर्मयोगी न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी कामना करता है, इसलिये उसको सदा ही संन्यासी समझना चाहिये; क्योंकि द्वन्द्वोंसे अर्थात् राग-द्वेषसे रहित मनुष्य सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

बेसमझ लोग ज्ञानयोग और कर्मयोगको अलग-अलग परिणामवाले कहते हैं, बुद्धिमान् लोग नहीं; क्योंकि इन दोनोंमेंसे एक साधनमें भी अच्छी तरहसे स्थित होनेपर मनुष्य दोनोंके परिणामरूप तत्त्वज्ञानको प्राप्त कर लेता है। जो तत्त्व ज्ञानयोगी प्राप्त करते हैं, वही तत्त्व कर्मयोगी भी प्राप्त करते हैं। अत: जो मनुष्य ज्ञानयोग और कर्मयोगको परिणाममें एक देखता है, वही ठीक देखता है। परन्तु हे महाबाहो! कर्मयोगका साधन किये बिना ज्ञानयोगका सिद्ध होना कठिन है। अपने निष्कामभावका और दूसरेके हितका मनन करनेवाला कर्मयोगी शीघ्र ही परमात्मतत्त्वको प्राप्त कर लेता है। जिसकी इन्द्रियाँ अपने वशमें हैं, जिसका अन्त:करण निर्मल है, जिसका शरीर अपने वशमें है और जिसको सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ अपनी एकताका अनुभव हो गया है, ऐसा कर्मयोगी कर्म करते हुए भी कर्मोंसे नहीं बँधता।

सब क्रियाएँ प्रकृतिमें ही हो रही हैं, उन क्रियाओंका मेरे साथ कोई सम्बन्ध है ही नहीं—ऐसा विवेक जिसमें जाग्रत् हो गया है, वह ज्ञानयोगका साधक देखता हुआ, सुनता हुआ, छूता हुआ, सूँघता हुआ, खाता हुआ, चलता हुआ, ग्रहण करता हुआ, बोलता हुआ, मल-मूत्रका त्याग करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ तथा आँख खोलता और मूँदता हुआ भी 'सम्पूर्ण क्रियाएँ इन्द्रियोंके द्वारा इन्द्रियोंके विषयोंमें ही हो रही हैं'—ऐसा समझकर 'मैं स्वयं (स्वरूपसे) कुछ भी नहीं करता हूँ'—ऐसा माने। तात्पर्य है कि शरीरके द्वारा क्रिया होनेपर भी साधककी अपने सत्तामात्र स्वरूपपर दृष्टि रहनी चाहिये कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ।

जैसे कर्मयोगी और ज्ञानयोगी कर्मोंसे निर्लिप्त रहता है, ऐसे ही भक्तियोगी भी कर्मोंसे निर्लिप्त रहता है। भक्तियोगी सम्पूर्ण कर्मोंको परमात्मामें अर्पण करके और आसक्तिका त्याग करके कर्म करता है। इसलिये वह जलसे कमलके पत्तेकी तरह पापसे लिप्त नहीं होता।

कर्मयोगी आसक्तिका त्याग करके और शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिको अपना न मानकर अन्त:करणकी शुद्धिके लिये ही कर्म करते हैं। शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिमें अपनेपनका सर्वथा अभाव हो जाना ही अन्त:करणकी शुद्धि है। कर्मयोगी कर्मफलकी कामनाका त्याग करके कर्म करता है, इसलिये उसे परमशान्ति प्राप्त हो जाती है। परन्तु जो कर्मफलकी कामना रखकर कर्म करता है, वह जन्म-मरणरूप बंधनमें पड़ जाता है।

जिसकी इन्द्रियाँ और मन वशमें हैं, वह ज्ञानयोगी नौ द्वारोंवाले शरीररूपी नगरमें विवेकपूर्वक

मनसे सम्पूर्ण क्रियाओंके कर्तापनका त्याग कर देता है। अत: वह न तो किसी क्रियाको करनेवाला बनता है और न करवानेवाला ही बनता है। इसलिये वह स्वरूपमें स्वत:-स्वाभाविक स्थित रहते हुए अखण्ड सुखका अनुभव करता है। सृष्टिके रचयिता भगवान् भी न तो किसी मनुष्यके कर्तापनकी रचना करते हैं, न किसीसे कर्म करवाते हैं और न कर्मफलके साथ किसीका सम्बन्ध ही जोड़ते हैं। मनुष्य ही स्वभावके वशीभूत होकर इनके साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है। तात्पर्य है कि कर्तापन भगवान्‌का बनाया हुआ नहीं है, अपितु मनुष्यका अपना बनाया हुआ है। भगवान् ऐसा विधान भी नहीं करते कि मनुष्यको अमुक कर्म करना पड़ेगा। अत: मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है। भगवान् जीवका कर्मफलके साथ भी सम्बन्ध नहीं जोड़ते, अपितु जीव स्वयं ही सम्बन्ध जोड़ता है और सुखी-दु:खी होता है। सर्वव्यापी परमात्मा किसीके भी कर्मके फलभागी नहीं होते; अत: वे किसीके भी पापकर्म और पुण्यकर्मको ग्रहण नहीं करते। मनुष्योंका ज्ञान अज्ञानसे ढका हुआ है, इसीलिये सब मनुष्य कर्म और कर्मफलके साथ सम्बन्ध जोड़कर सुखी-दु:खी हो रहे हैं। परन्तु जिन्होंने अपने विवेकको महत्त्व देकर उस अज्ञान (मैं-मेरापन)-का नाश कर दिया है, उनका वह विवेक सूर्यकी तरह परमतत्त्व परमात्माको प्रकाशित कर देता है अर्थात् उन्हें सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जाता है।

जिनके मनमें निरन्तर परमात्माका ही चिन्तन होता रहता है, जिनकी बुद्धिमें एक परमात्माकी ही सत्ताका अटल निश्चय है, जो निरन्तर परमात्मामें ही अपनी स्थितिका अनुभव करते हैं और परमात्माके ही परायण हैं, ऐसे साधक विवेकज्ञानके द्वारा पापरहित होकर उस परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं, जहाँसे लौटकर संसारमें नहीं आना पड़ता। ऐसे ज्ञानी महापुरुष व्यवहारकालमें विद्या एवं विनयसे सम्पन्न ब्राह्मण और चाण्डालसे तथा गाय, हाथी तथा कुत्तेसे यथायोग्य व्यवहार करते हुए भी भीतरसे उनमें समान दृष्टि रखते हैं। तात्पर्य है कि व्यवहारमें विषमता अनिवार्य होनेपर भी उनकी दृष्टि विषम नहीं होती अर्थात् उनकी दृष्टि उन सबमें समानरीतिसे परिपूर्ण एक परमात्मापर ही रहती है। अत: उनका सबके प्रति समान आत्मीयता तथा हितका भाव रहता है।

जिनका अन्त:करण समतामें स्थित (राग-द्वेषादि विकारोंसे रहित) है, उन्होंने इस जीवित-अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसारको जीत लिया है अर्थात् वे जीवन्मुक्त हो गये हैं। परमात्मामें किंचिन्मात्र भी दोष तथा विषमता नहीं है। इसलिये जिन महापुरुषोंका अन्त:करण निर्दोष तथा सम हो गया है, वे परमात्मामें ही स्थित हैं; क्योंकि परमात्मतत्त्वमें स्थित हुए बिना पूर्ण समता आनी सम्भव ही नहीं। जो अनुकूल प्राणी, पदार्थ आदिके मिलनेपर हर्षित नहीं होता और प्रतिकूल प्राणी, पदार्थ आदिके मिलनेपर दु:खी नहीं होता, वह स्थिर बुद्धिवाला, अज्ञानसे रहित तथा ब्रह्मको जाननेवाला महापुरुष वास्तवमें ब्रह्ममें ही स्थित है अर्थात् वह ब्रह्मसे अभिन्न हो जाता है।

जिसकी सांसारिक सुखमें आसक्ति मिट जाती है, उसे पहले सात्त्विक सुखका अनुभव होता है। फिर उस सात्त्विक सुखका भी उपभोग न करनेसे उसे नित्य एकरस रहनेवाले परमात्मस्वरूप अविनाशी सुखका अनुभव हो जाता है। हे कुन्तीनन्दन! शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन विषयोंसे इन्द्रियोंका रागपूर्वक सम्बन्ध होनेपर जो सुखका अनुभव होता है, उसे 'भोग' कहते हैं। ऐसे जितने भी भोग हैं, वे सब-के-सब आने-जानेवाले और दु:खके कारण हैं। इसलिये आरम्भमें सुखरूप प्रतीत होनेपर भी परिणाममें वे दु:ख ही देनेवाले हैं। सुखके भोगीको दु:ख भोगना ही पड़ता है। इसलिये विवेकी मनुष्य उन भोगोंमें रमण नहीं करता, उनसे सुख नहीं लेता। जो मनुष्य शरीर छूटनेसे पहले ही काम-क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले वेगको सहन कर लेता है अर्थात् उनके वेगको उत्पन्न ही नहीं

होने देता अथवा वेग उत्पन्न होनेपर भी वैसी क्रिया नहीं करता, वही वास्तवमें शूरवीर है, वही योगी है तथा वही सुखी है।

जिस निवृत्तिपरायण साधकको संसारमें सुख प्रतीत नहीं होता, अपितु परमात्मामें ही सुख मिलता है, जो व्यवहारकालमें भी केवल परमात्मामें ही रमण करता है, जिसमें परमात्मतत्त्वका ज्ञान हर समय जाग्रत् रहता है, ऐसा ज्ञानयोगी निरन्तर ब्रह्ममें ही अपनी स्थितिका अनुभव करते हुए ब्रह्मके साथ अभिन्न हो जाता है। जिन प्रवृत्तिपरायण साधकोंके शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि स्वाभाविक ही वशमें रहते हैं, जिनकी सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें प्रीति होती है, जिनके सम्पूर्ण संशय मिट गये हैं, जिनके सम्पूर्ण दोष नष्ट हो गये हैं, ऐसे विवेकशील ज्ञानयोगी ब्रह्मके साथ अभिन्न हो जाते हैं। जो काम-क्रोधसे सर्वथा रहित हो गये हैं, जिन्होंने अपने मनको जीत लिया है और जिन्हें अपने स्वरूपका साक्षात्कार हो गया है, ऐसे महापुरुष शरीरके रहते हुए अथवा शरीर छूटनेके बाद नित्य-निरन्तर ब्रह्ममें ही स्थित रहते हैं।

जिस तत्त्व (ब्रह्म)-को कर्मयोगी और ज्ञानयोगी प्राप्त करता है, उसी तत्त्वको ध्यानयोगी भी प्राप्त कर सकता है। बाहरी पदार्थोंसे विमुख होकर और अपने नेत्रोंकी दृष्टिको भौहोंके बीचमें स्थित करके तथा प्राण और अपानवायु* की गतिको सम करके ध्यान करनेवाले जिस साधककी इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि अपने वशमें हैं, परमात्मप्राप्ति करना ही जिसका उद्देश्य है तथा जो इच्छा, भय और क्रोधसे सर्वथा रहित है, वह वास्तवमें सदा ही (जीते-जी) मुक्त है।

जो भक्त मुझे सम्पूर्ण शुभ कर्मों तथा तपोंका भोक्ता, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण प्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थ-रहित दयालु और प्रेमी मानता है, उसे परमशान्तिकी प्राप्ति हो जाती है।

हरिः ॐ तत्सत्! *हरिः ॐ तत्सत्!!* *हरिः ॐ तत्सत्!!!*

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

छठा अध्याय

(आत्मसंयमयोग)

श्रीभगवान् बोले—जो संसारका अर्थात् वस्तु, व्यक्ति और क्रियाके आश्रयका त्याग करके कर्तव्य-कर्मका पालन करता है, वही सच्चा संन्यासी तथा योगी है। केवल अग्निका त्याग करनेवाला सच्चा संन्यासी नहीं होता तथा केवल क्रियाओंका त्याग करनेवाला सच्चा योगी नहीं होता। हे अर्जुन! लोग जिसे संन्यास (ज्ञानयोग) कहते हैं, उसीको तुम योग (कर्मयोग) समझो; क्योंकि दोनोंमें ही अपने

---

* नासिकासे बाहर निकलनेवाली वायुको 'प्राण' और नासिकाके भीतर जानेवाली वायुको 'अपान' कहते हैं।

संकल्प* का त्याग है। मनुष्य अपने संकल्पका त्याग किये बिना (नाशवान् पदार्थोंके साथ सम्बन्ध रखते हुए) कोई-सा भी योगी नहीं हो सकता। जो योग (समता)-को प्राप्त करना चाहता है, ऐसा मननशील योगी निष्कामभावसे कर्तव्य-कर्म करेगा, तभी योगकी प्राप्ति होगी; क्योंकि कर्तव्य-कर्म किये बिना अर्थात् संसारसे मिली वस्तुको संसारकी सेवामें लगाये बिना वह योग (समता)-में स्थित नहीं हो सकता। योगमें स्थित होनेपर जो शान्ति मिलती है, उस शान्तिका भी सुख न लेनेसे साधकको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। जिस समय मनुष्य न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें आसक्त होता है और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है और सम्पूर्ण संकल्पोंका त्याग कर देता है, उस समय वह योगमें स्थित कहा जाता है।

मनुष्य अपने उद्धार और पतनमें स्वयं ही कारण होता है, दूसरा कोई नहीं। इसलिये मनुष्य अपने द्वारा अपना उद्धार करे, अपना पतन न करे; क्योंकि आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है। जिसने अपने-आपसे अपने-आपको जीत लिया है अर्थात् अपने सिवाय दूसरे सब नाशवान् पदार्थोंके आश्रयका त्याग कर दिया है, वह आप ही अपना मित्र है। परन्तु जिसने अपने-आपको नहीं जीता है अर्थात् अपने लिये नाशवान् पदार्थोंकी आवश्यकता मानता है, वह आप ही अपना शत्रु है।

जिसने अपने-आपपर विजय कर ली है अर्थात् जो किसी भी प्राणी-पदार्थके साथ अपना सम्बन्ध नहीं मानता, जो अनुकूलता-प्रतिकूलता, सुख-दुःख तथा मान-अपमानके प्राप्त होनेपर निर्विकार, सम रहता है, वह परमात्माको प्राप्त हो चुका है—ऐसा मानना चाहिये। जो कर्मयोगी 'ज्ञान' (कर्म करनेकी जानकारी) और 'विज्ञान' (कर्मोंकी सिद्धि-असिद्धिमें सम रहना)—दोनोंसे तृप्त है, जो कूट (अहरन)-की तरह ज्यों-का-त्यों निर्विकार है, जिसने अपनी इन्द्रियोंको जीत लिया है और जो मिट्टीके ढेले, पत्थर तथा स्वर्णको समान दृष्टिसे (नाशवान्) देखता है, वह योग (समता)-में स्थित कहा जाता है। सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य (दूसरोंका अहित करनेवाले) और सम्बन्धियोंमें तथा अच्छे आचरण करनेवाले और पाप करनेवाले—इन सबमें जिसकी समबुद्धि अर्थात् समान हितका भाव होता है, वह मनुष्य सबसे श्रेष्ठ है।

जो समता (समबुद्धि) कर्मयोगसे प्राप्त होती है, वही समता ध्यानयोगसे भी प्राप्त होती है। जो अपने सुखके लिये किसी वस्तुका संग्रह नहीं करता, जिसमें सुखकी इच्छा नहीं है और जिसने अन्तःकरणसहित शरीरको वशमें कर रखा है, ऐसा ध्यानयोगी साधक एकान्तमें बैठकर मनको निरन्तर परमात्मामें लगाये। इसकी विधि इस प्रकार है—शुद्ध भूमिपर लकड़ी आदिकी चौकी रखकर उसपर पहले कुश बिछा दे, उसके ऊपर मृगछाला बिछा दे, फिर उसके ऊपर कोमल सूती कपड़ा बिछा दे। वह चौकी न अत्यन्त ऊँची हो तथा न अत्यन्त नीची हो और हिलने-डुलनेवाली भी न हो। उसपर बैठकर साधक चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें रखते हुए अपने मनको एकाग्र करके अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये (केवल परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य रखकर) ध्यानयोगका अभ्यास करे। ध्यान करते समय साधक अपना शरीर, सिर और गला—तीनोंको सीधा तथा अचल रखे। वह इधर-उधर न देखकर केवल अपनी नासिकाके अग्रभागको देखे और मूर्तिकी तरह स्थिर होकर बैठे।

---

* मनमें जो तरह-तरहकी बातें आती हैं, उनमेंसे जिस बातके साथ मन चिपक जाता है, वह 'संकल्प' हो जाता है।

(सगुण-साकारके ध्यानका वर्णन—) जिसका अन्त:करण शान्त, राग-द्वेषरहित है, जो भयरहित है, जिसका जीवन ब्रह्मचारीकी तरह संयत और नियत है, जो निरन्तर सावधान रहता है, ऐसा ध्यानयोगी अपने मनको संसारसे हटाकर मुझमें लगाते हुए केवल मेरे परायण होकर बैठे। इस प्रकार मनको सदा मुझमें लगाते हुए वशमें किये हुए मनवाला ध्यानयोगी मुझमें रहनेवाली परमशान्तिको प्राप्त हो जाता है, जिसे प्राप्त होनेपर फिर कुछ भी प्राप्त करना बाकी नहीं रहता।

हे अर्जुन! यह ध्यानयोग न तो अधिक खानेवालेका और न बिलकुल न खानेवालेका तथा न अधिक सोनेवालेका और न बिलकुल न सोनेवालेका ही सिद्ध होता है। दु:खोंका नाश करनेवाला यह योग तो यथायोग्य आहार और विहार करनेवालेका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका तथा यथायोग्य सोने और जागनेवालेका ही सिद्ध होता है।

(स्वरूपके ध्यानका वर्णन—) संसारके चिन्तनसे सर्वथा रहित चित्त जब अपने स्वरूपमें तल्लीन हो जाता है और जब वह सम्पूर्ण पदार्थोंसे नि:स्पृह हो जाता है अर्थात् उसे किसी भी पदार्थकी परवाह नहीं रहती, तब वह वास्तविक 'योगी' कहा जाता है। जैसे सर्वथा स्पन्दनरहित वायुके स्थानमें रखे हुए दीपककी लौ थोड़ी-सी भी हिलती-डुलती नहीं, ऐसे ही जो योगका अभ्यास करता है और जिसने चित्तको वशमें कर लिया है, उस ध्यानयोगीका चित्त एक स्वरूपमें ही स्थिर रहता है, एक स्वरूपके सिवाय कुछ भी चिन्तन नहीं करता। जिस समय ध्यानयोगीका चित्त निरुद्ध-अवस्था (निर्बीज समाधि)-से भी उपराम हो जाता है अर्थात् निर्बीज समाधिका भी सुख नहीं लेता, उस समय वह अपने स्वरूपमें अपने-आपका अनुभव करता हुआ अपने-आपमें ही संतुष्ट रहता है। ध्यानयोगी अपने द्वारा अपने-आपमें जिस सुखका अनुभव करता है, उस सुखसे बढ़कर दूसरा कोई सुख संसारमें नहीं है। वह सुख इन्द्रियोंके अधीन नहीं है और उस सुखमें बुद्धि भी जाग्रत् रहती है। तात्पर्य है कि वह सुख सात्त्विक, राजस और तामस—तीनों सुखोंसे अत्यन्त विलक्षण है। ऐसे सुखमें स्थित हुआ ध्यानयोगी फिर कभी उस सुखसे विचलित नहीं होता। ऐसे सुखको प्राप्त करना ही सभी साधनोंकी कसौटी है, पूर्णताकी पहचान है। कारण कि उस सुखसे बढ़कर दूसरा कोई सुख, कोई लाभ है ही नहीं; और उस सुखमें स्थित होनेपर योगी बड़े-से-बड़े दु:खसे भी विचलित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार जिसमें दु:खरूप संसारका सर्वथा वियोग है, उसे ही 'योग' नामसे जानना चाहिये। उस योगकी प्राप्तिके लिये साधकको न उकताये हुए चित्तसे तथा दृढ़ निश्चयके साथ ध्यानयोगका अभ्यास करना चाहिये।

(निर्गुण-निराकारके ध्यानका वर्णन—) सम्पूर्ण कामनाएँ संकल्पसे उत्पन्न होती हैं। साधक उन सम्पूर्ण कामनाओंका सर्वथा त्याग करके और मनसे इन्द्रियोंको उनके अपने-अपने विषयोंसे हटाकर धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा धीरे-धीरे संसारसे उपराम हो जाय, जल्दबाजी न करे। फिर बुद्धिको परमात्मामें स्थिर कर दे अर्थात् 'सब जगह एक परमात्मा ही परिपूर्ण है, परमात्माके सिवाय और कुछ है ही नहीं'—ऐसा पक्का निश्चय कर ले। ऐसा निश्चय करनेके बाद फिर किसी प्रकारका किंचिन्मात्र भी चिन्तन न करे; न संसारका चिन्तन करे, न परमात्माका। यदि साधक इस प्रकार 'चुप साधन' न कर सके तो उसका अस्थिर तथा चंचल मन जहाँ-जहाँ जाय, वहाँ-वहाँसे हटाकर उसे एक परमात्मामें ही भलीभाँति लगानेका अभ्यास करे। इस प्रकार साधनमें लगे हुए जिस योगीके सम्पूर्ण पाप नष्ट हो गये हैं, जिसका रजोगुण तथा उसकी वृत्तियाँ शान्त हो गयी हैं और जिसका मन सर्वथा शान्त, निर्मल हो गया है, ऐसे ब्रह्मस्वरूप ध्यानयोगीको निश्चित ही उत्तम सात्त्विक सुख प्राप्त होता है। इस प्रकार अपने-आपको सदा परमात्मामें लगाता हुआ पापरहित योगी सुखपूर्वक ब्रह्मप्राप्तिरूप अत्यन्त

सुखका अनुभव कर लेता है।

(स्वरूपका ध्यान करनेवाले साधकका अनुभव—) सब जगह समरूपसे परिपूर्ण अपने स्वरूपका ध्यान करनेवाला ज्ञानयोगी अपने स्वरूप (आत्मा)-को सम्पूर्ण प्राणियोंमें तथा सम्पूर्ण प्राणियोंको अपने स्वरूपमें स्थित देखता है।

(सगुण-साकारका ध्यान करनेवाले साधकका अनुभव—) जो भक्त सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिमें मुझे देखता है और मुझमें सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिको देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता। कारण कि जिसकी मेरे साथ अभिन्नता हो गयी है, ऐसा सिद्ध भक्त सम्पूर्ण संसारको मेरा ही स्वरूप देखता है। इसलिये वह सब व्यवहार करते हुए भी मुझमें ही रहता है, मुझसे अलग नहीं होता। हे अर्जुन! जैसे साधारण मनुष्य अपने शरीरके सब अंगोंका समानरूपसे आराम चाहता है, ऐसे ही सब प्राणियोंमें भगवान्‌को समान देखनेवाला भक्त सभी प्राणियोंका समानरूसे आराम चाहता है। अपने शरीरमें पीड़ा होनेपर उस पीड़ाको दूर करने तथा सुख पहुँचानेमें साधारण मनुष्यकी जैसी स्वाभाविक चेष्टा होती है, वैसी ही स्वाभाविक चेष्टा दूसरोंका दु:ख दूर करने तथा उन्हें सुख पहुँचानेमें भक्तकी होती है। ऐसा भक्त मेरी मान्यतामें परमयोगी है।

भगवान्‌के द्वारा ध्यानयोगसे समताकी प्राप्तिकी बात सुनकर अर्जुन बोले—हे मधुसूदन! आपने जिस ध्यानयोगसे समताकी प्राप्ति बतायी है, मनकी चंचलताके कारण उस ध्यानयोगका सिद्ध होना मुझे बहुत कठिन दिखायी देता है। कारण कि हे कृष्ण! मन बहुत ही चंचल, विचलित करनेवाला, जिद्दी और बलवान् है। उस मनको रोकना मैं वायुको मुट्ठीमें पकड़नेकी तरह अत्यन्त कठिन मानता हूँ।

अर्जुनकी मान्यता सुनकर श्रीभगवान् बोले—हे महाबाहो! तुम्हारा कहना बिलकुल ठीक है कि यह मन बहुत चंचल है और इसका निग्रह करना भी बहुत कठिन है; परन्तु हे कौन्तेय! अभ्यास और वैराग्यके द्वारा इसका निग्रह हो जाता है। परन्तु मेरा ऐसा मत है कि जिसका मन पूरा वशमें नहीं है अर्थात् जिसके मनमें विषयोंका राग है, उसके द्वारा योग सिद्ध होना कठिन है। कारण कि योगकी सिद्धिमें मनका वशमें न होना जितना बाधक है, उतनी मनकी चंचलता बाधक नहीं है। इसलिये जो तत्परतासे ध्यानयोगमें लगा हुआ है तथा जिसका मन वशमें है, उसे योगकी सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

अर्जुनने पुन: प्रश्न किया—हे कृष्ण! जिसकी साधनमें श्रद्धा तो है, पर साधनमें तत्परता नहीं है, उसका मन यदि अन्त समयमें अपनी साधनासे हट जाय तो फिर उसकी क्या गति होगी? वह कहाँ जायगा? हे महाबाहो! उसने संसारका आश्रय तो छोड़ दिया और परमात्माको प्राप्त नहीं किया, अन्त समयमें परमात्माका स्मरण भी नहीं हुआ—इस प्रकार दोनों ओर (संसार और परमार्थ)-से भ्रष्ट हुआ वह साधक छिन्न-भिन्न बादलकी तरह नष्ट तो नहीं हो जाता? हे कृष्ण! मेरे इस सन्देहको आप ही सर्वथा मिटा सकते हैं; क्योंकि इस संशयको आपके सिवाय दूसरा कोई मिटा ही नहीं सकता।

अर्जुनकी शंकाका समाधान करनेके लिये और साधकमात्रको आश्वासन देनेके लिये श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ! उसका न तो इस जन्ममें पतन होता है और न मरनेके बाद ही पतन होता है; क्योंकि हे प्यारे अर्जुन! अपने कल्याणके लिये साधनमें लगे हुए किसी भी साधककी दुर्गति नहीं होती। कारण कि जिसके भीतर एक बार साधनके संस्कार पड़ गये हैं, वे संस्कार फिर कभी

नष्ट नहीं होते।

योगभ्रष्ट होनेवाले साधक दो प्रकारके होते हैं—भोगोंकी वासनावाले और वासनारहित (वैराग्यवान्)। जिसकी वासना नहीं मिटी है, ऐसा योगभ्रष्ट मरनेके बाद स्वर्गादि ऊँचे लोकोंमें जाता है और वहाँ बहुत वर्षोंतक रहनेके बाद (भोगोंसे अरुचि होनेपर) पुनः इस लोकमें आकर शुद्ध भावों तथा आचरणोंवाले, ममतारहित श्रीमानोंके घरमें जन्म लेता है। परन्तु जिसके भीतर वैराग्य है, वह साधक यदि किसी कारणसे योगभ्रष्ट हो जाय तो वह स्वर्गादि लोकोंमें न जाकर सीधे ज्ञानवान् जीवन्मुक्त योगियोंके कुलमें जन्म लेता है। ऐसा जन्म संसारमें निःसंदेह बहुत ही दुर्लभ है। हे कुरुनन्दन! योगियोंके कुलमें उसे अनायास ही पूर्वजन्मकी साधन-सामग्री मिल जाती है। पूर्वजन्ममें किये साधनके जो संस्कार उसकी बुद्धिमें बैठे हुए हैं, वे उसे पुनः विशेषरूपसे साधनमें लगा देते हैं। परन्तु जो योगभ्रष्ट श्रीमानोंके घरमें जन्म लेता है, वह भोगोंमें आसक्त होता हुआ भी पूर्वजन्ममें किये हुए साधनके कारण परमात्माकी तरफ जबर्दस्ती खिंच जाता है। कारण कि जब योगका जिज्ञासु भी वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्म तथा उनके फलोंको पार कर जाता है, फिर जो योगमें लगा हुआ है, उस योगभ्रष्टका पतन कैसे हो सकता है? उसका तो कल्याण होगा ही। वह (श्रीमानोंके घर जन्म लेनेवाला) विशेष जोरसे परमात्मामें लग जाता है और इस प्रकार सब पापोंसे मुक्त हुआ और 'अनेकजन्मसंसिद्ध'* अर्थात् अनेक जन्मोंमें शुद्ध हुआ वह योगी परम गतिको प्राप्त हो जाता है।

ऋद्धि-सिद्धि आदिको पानेके लिये जो अनेक तरहका कष्ट सहते हैं, वे तपस्वी कहलाते हैं। उन तपस्वियोंसे भी योगी श्रेष्ठ है। शास्त्रोंको जाननेवाले विद्वानोंसे भी योगी श्रेष्ठ है। सकामभावसे यज्ञ, दान, तीर्थ आदि करनेवालोंसे भी योगी श्रेष्ठ है। ऐसा मेरा मत है। इसलिये हे अर्जुन! तुम भी योगी हो जाओ।

कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, ध्यानयोगी, हठयोगी, लययोगी, राजयोगी आदि जितने भी योगी हो सकते हैं, उन सम्पूर्ण योगियोंमें भी मेरा भक्त सर्वश्रेष्ठ है। कारण कि जो श्रद्धावान् भक्त मुझमें तल्लीन हुए मनसे मेरा भजन करता है, वह मेरे मतमें सर्वश्रेष्ठ योगी है। *[भगवान्‌का आश्रय रहनेके कारण भक्त कभी योगभ्रष्ट नहीं होता।]*

हरिः ॐ तत्सत्! *हरिः ॐ तत्सत्!!* *हरिः ॐ तत्सत्!!!*

* पहले मनुष्यजन्ममें साधन करनेसे शुद्धि हुई, फिर योगसे विचलित होकर स्वर्गादि लोकोंमें जानेपर (भोगोंसे अरुचि होनेपर) शुद्धि हुई और फिर श्रीमानोंके घर जन्म लेकर साधनमें तत्परतासे लगनेपर शुद्धि हुई, इस प्रकार तीन जन्मोंमें शुद्ध होना ही अनेक जन्मोंमें शुद्ध होना है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

सातवाँ अध्याय

(ज्ञानविज्ञानयोग)

जैसे भगवान्‌की याद आनेपर भक्त मस्त हो जाते हैं, ऐसे ही भक्तोंका प्रसंग, उनकी याद आनेपर भगवान् भी मस्त हो गये और अर्जुनके बिना पूछे ही अपनी तरफसे बोलने लगे—हे पार्थ! अत्यधिक प्रेमके कारण मुझमें ही आसक्त मनवाले तथा मेरे ही आश्रित होकर मेरा भजन करते हुए तुम मेरे समग्ररूपको अर्थात् 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इसको जिस प्रकारसे जान सकोगे, उसे मुझसे सुनो। उस समग्र रूपको जाननेके लिये मैं तुम्हारे लिये यह 'विज्ञानहित ज्ञान'* पूर्णरूपसे कहूँगा, जिसे जाननेके बाद फिर जाननेयोग्य कुछ भी बाकी नहीं रहेगा। कारण कि जब एक मेरे सिवाय कुछ है ही नहीं, तो फिर जाननेयोग्य क्या बाकी रहा? परन्तु इस विज्ञानसहित ज्ञानको सब मनुष्य नहीं जानते; क्योंकि हजारों मनुष्योंमें कोई एक ही मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवालोंमें जो मुक्त हो चुके हैं, उन महापुरुषोंमें भी कोई एक ही 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इस प्रकार मेरे समग्ररूपको यथार्थरूपसे जानता है।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश—ये पंचमहाभूत और मन, बुद्धि तथा अहंकार—यह आठ प्रकारके भेदोंवाली मेरी 'अपरा प्रकृति' है। हे महाबाहो! इस जड़ तथा परिवर्तनशील अपरा प्रकृतिसे अलग जो मेरा अंश जीव है, वह चेतन तथा अपरिवर्तनशील मेरी 'परा प्रकृति' है। वास्तवमें जगत् (अपरा प्रकृति)-की मेरेसे अलग सत्ता है ही नहीं, पर इस जीव (परा प्रकृति)-ने इस जगत्‌को सत्ता दे रखी है, जिससे यह बन्धनमें पड़ गया। सम्पूर्ण लोकोंमें जितने भी प्राणी हैं, वे सब मेरी अपरा और परा प्रकृतिके संयोगसे ही उत्पन्न होते हैं। मैं सम्पूर्ण जगत्‌को उत्पन्न तथा लीन करनेवाला हूँ।

हे धनंजय! जैसे सूतकी मणियाँ सूतके धागेमें पिरोयी हुई हों तो उनमें सूतके सिवाय और कुछ नहीं है, ऐसे ही संसारमें मेरे सिवाय और कुछ नहीं है। हे कौन्तेय! संसारमें जो कुछ दीखता है, उसके मूलमें (मूल कारण) मैं ही हूँ; जैसे—जलोंमें 'रस', चन्द्रमा और सूर्यमें 'प्रकाश', सम्पूर्ण वेदोंमें 'ओंकार', आकाशमें 'शब्द' और मनुष्योंमें 'पुरुषार्थ', पृथ्वीमें पवित्र 'गन्ध' और अग्निमें 'तेज' मैं ही हूँ। जिस प्राणशक्तिसे सम्पूर्ण प्राणी जी रहे हैं, वह 'प्राणशक्ति' भी मैं ही हूँ। तपस्वियोंमें 'तप' भी मैं ही हूँ। हे पार्थ! मैं ही सम्पूर्ण प्राणियोंका अनादि (अविनाशी) 'बीज' हूँ। तात्पर्य है कि अनन्त ब्रह्माण्डोंमें अनन्त जीव हैं, पर उन अनन्त जीवोंका बीज मैं एक ही हूँ। बुद्धिमानोंमें 'बुद्धि' और तेजस्वियोंमें 'तेज' भी मैं ही हूँ। हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! बलवानोंमें कामना तथा आसक्तिसे रहित सात्त्विक 'बल' और प्राणियोंमें धर्मयुक्त 'काम' भी मैं ही हूँ। और तो क्या कहूँ, जितने भी सात्त्विक, राजस तथा तामस भाव (गुण, पदार्थ और क्रिया) हैं, वे सब मुझसे ही उत्पन्न होते हैं, मुझसे ही सत्ता-स्फूर्ति पाते हैं। परन्तु मैं उनमें और वे मुझमें नहीं हैं। तात्पर्य है कि उन

---

* संसार भगवान्‌से ही उत्पन्न होता है और भगवान्‌में ही लीन होता है, ऐसा मानना 'ज्ञान' है। सब कुछ भगवान् ही हैं, स्वयं भगवान् ही सब कुछ बने हुए हैं, भगवान्‌के सिवाय और कुछ है ही नहीं, ऐसा अनुभव हो जाना 'विज्ञान' है। अतः अहम्‌सहित सब कुछ भगवान् ही हैं, यह 'विज्ञानसहित ज्ञान' है।

गुणोंकी मेरे सिवाय कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है अर्थात् सब कुछ मैं-ही-मैं हूँ। अतः साधककी दृष्टि इन भावोंकी तरफ न जाकर मेरी तरफ ही जानी चाहिए। परन्तु इन तीनों गुणरूप भावोंकी अलग सत्ता मानकर जीवात्मा इनके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है और फलस्वरूप बार-बार जन्मता-मरता है। इस कारण वह इन तीनों गुणोंसे अतीत मुझ अविनाशीको नहीं जानता, मेरे सम्मुख नहीं होता।

यद्यपि सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंवाली मेरी मायासे पार पाना बहुत ही कठिन है, तथापि जो केवल मेरे ही शरण होते हैं, वे इस मायाको तर जाते हैं। परन्तु मायाको सत्ता और महत्ता देनेके कारण जिनका विवेक ढक गया है, जो केवल अपने प्राणोंका पोषण करनेमें ही लगे हुए हैं, ऐसे नीच तथा पाप-कर्म करनेवाले अज्ञानी मनुष्य मेरे शरण नहीं होते। हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! नामजप, कीर्तन आदि भगवत्सम्बन्धी कर्म करनेवाले ये चार प्रकारके भक्त मेरे शरण होते हैं—

१. अर्थार्थी—जिनमें कभी कोई न्याययुक्त इच्छा उत्पन्न हो जाती है तो वे उसे केवल भगवान्से ही पूरी कराना चाहते हैं, दूसरेसे नहीं, ऐसे भक्त 'अर्थार्थी' कहलाते हैं।

२. आर्त—कोई संकट आनेपर जो दुःखी होकर भगवान्को पुकारते हैं और उन्हींसे अपना दुःख दूर कराना चाहते हैं, ऐसे भक्त 'आर्त' कहलाते हैं।

३. जिज्ञासु—जो विज्ञानसहित ज्ञानका अर्थात् भगवान्के समग्ररूपको केवल भगवान्से ही जानना चाहते हैं, ऐसे भक्त 'जिज्ञासु' कहलाते हैं।

४. ज्ञानी—जिन्हें 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इस प्रकार भगवान्के समग्ररूपका ज्ञान हो गया है, जिनमें किंचिन्मात्र भी कोई इच्छा नहीं होती और जो केवल भगवान्के प्रेममें ही मस्त रहते हैं, ऐसे भक्त 'ज्ञानी' अर्थात् 'प्रेमी' कहलाते हैं।

इन चारों भक्तोंमें मुझमें निरन्तर लगा हुआ अनन्य भक्तिवाला 'ज्ञानी' अर्थात् प्रेमी भक्त श्रेष्ठ है। कारण कि अर्थार्थीमें धनकी भी इच्छा है, आर्तमें दुःख दूर करनेकी भी इच्छा है और जिज्ञासुमें तत्त्वको जाननेकी भी इच्छा है, पर ज्ञानीमें किसी भी तरहकी कोई इच्छा नहीं है। इसलिये उस ज्ञानी भक्तको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह भी मुझे अत्यन्त प्रिय है। यद्यपि अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—ये चारों ही भक्त बड़े उदार (श्रेष्ठ भाववाले) हैं, तथापि ज्ञानी (प्रेमी) तो मेरा स्वरूप ही है—ऐसा मेरा मत है। कारण कि वह मुझसे अभिन्न है और जिससे दूसरा कोई प्रापणीय तत्त्व नहीं है, ऐसे सर्वोपरि मुझमें ही उसकी दृढ़ स्थिति है। सम्पूर्ण जन्मोंके अंतिम इस मनुष्यजन्ममें जिसे **'वासुदेवः सर्वम्'** अर्थात् 'सब कुछ परमात्मा ही हैं', ऐसा अनुभव हो गया है, ऐसा भक्त ही सच्चा 'ज्ञानी' तथा 'महात्मा' है। उसकी दृष्टिमें एक भगवान्के सिवाय कोई दूसरी सत्ता होती ही नहीं—यही उसकी शरणागति है। ऐसा महात्मा भक्त संसारमें अत्यन्त ही दुर्लभ है।

*[जैसे गेहूँके खेतमें भले ही गेहूँका एक दाना भी न दीखे, केवल हरी घास दीखे, पर जानकार किसानको वह गेहूँ ही दिखायी देगा। शहरका अनजान आदमी तो कहेगा कि यह तो घास है, गेहूँ है ही नहीं, पर किसान कहेगा कि यह वह घास नहीं है, जो पशु खाया करते हैं, यह तो गेहूँ है। ऐसे ही संसारी आदमीको जो संसार-रूपसे दिखायी देता है, वही महात्माको भगवद्-रूपसे दिखायी देता है—**'वासुदेवः सर्वम्'**। तात्पर्य है कि जैसे खेतमें पहले भी गेहूँ था, अन्तमें भी गेहूँ रहेगा; अतः बीचमें हरी-हरी घास दीखनेपर भी वह गेहूँ ही है, ऐसे ही संसारके पहले भी परमात्मा*

थे, अन्तमें भी परमात्मा ही रहेंगे; अत: बीचमें सब कुछ परमात्मा ही हैं।]

सांसारिक कामनाओंके कारण जिनका विवेक ढक गया है, ऐसे मनुष्य अपने स्वभावके अधीन होकर कामनाओंकी पूर्तिके लिये मेरी शरण न लेकर भिन्न-भिन्न देवताओंकी शरण लेते हैं और कामना-पूर्तिके लिये अनेक उपायों तथा नियमोंको धारण करते हैं। परन्तु मैं मनुष्योंको दी हुई स्वतंत्रता छीनता नहीं हूँ, अपितु जो मनुष्य जिस-जिस देवताका भक्त होकर श्रद्धापूर्वक उसका यजन-पूजन करना चाहता है, उस मनुष्यकी श्रद्धा मैं उस-उस देवताके प्रति दृढ़ कर देता हूँ। मेरे द्वारा दृढ़ की हुई उस श्रद्धासे युक्त होकर वह मनुष्य सकामभावसे उस देवताकी उपासना करता है और उसकी कामना पूरी भी होती है; परन्तु वह कामना-पूर्ति वास्तवमें मेरे द्वारा ही की हुई होती है। कारण कि वास्तवमें देवताओंमें भी मेरी ही शक्ति है और मेरे ही विधानसे वे उसकी कामना-पूर्ति करते हैं। परन्तु उन तुच्छ बुद्धिवाले मनुष्योंको उन देवताओंकी आराधनाका जो फल मिलता है, वह सीमित तथा नाशवान् ही होता है। देवताओंका पूजन करनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझे ही प्राप्त होते हैं। फिर भी मनुष्य मुझे छोड़कर देवताओंकी उपासनामें लग जाते हैं; क्योंकि वे बुद्धिहीन मनुष्य मेरे परम, अविनाशी तथा सर्वश्रेष्ठ भावको नहीं जानते, इसलिये मुझे साधारण मनुष्यकी तरह जन्मने-मरनेवाला समझते हैं। इसका कारण यह है कि मैं जन्म-मरणसे रहित होते हुए भी अवतार लेकर प्रकट और अन्तर्धान होनेकी लीला करता हूँ—इस बातको वे मूढ़ मनुष्य नहीं जानते। इसलिये मैं योगमायासे भलीभाँति छिपा रहनेके कारण उनके सामने भगवद्-रूपसे प्रकट नहीं होता।

हे अर्जुन! जो प्राणी भूतकालमें हो चुके हैं तथा जो वर्तमानमें है और जो भविष्यमें होंगे, उन सब प्राणियोंको तो मैं जानता हूँ, पर मुझे भक्तके सिवाय कोई भी नहीं जानता। कारण कि हे भरतवंशमें उत्पन्न परन्तप! राग तथा द्वेषसे उत्पन्न होनेवाले द्वन्द्वमोहसे मोहित होकर सम्पूर्ण प्राणी मुझसे विमुख होनेके कारण संसारमें जन्म-मरणको प्राप्त होते रहते हैं। परन्तु जो द्वन्द्वमोहसे मोहित नहीं हैं, जिन्होंने 'मुझे तो भगवत्प्राप्ति ही करनी है'—इस उद्देश्यको पहचान लिया है और मेरे सम्मुख हो जानेसे जिनके पाप नष्ट हो गये हैं, वे दृढ़वती होकर मेरा भजन करते हैं।

वृद्धावस्था, मृत्यु आदि शरीरके दु:खोंसे मुक्ति पानेके लिये जो मनुष्य मेरा आश्रय लेकर साधन करते हैं, वे मेरी कृपासे ब्रह्म (निर्गुण-निराकार), सम्पूर्ण अध्यात्म (अनन्त योनियोंके अनन्त जीव) और सम्पूर्ण कर्म (सृष्टि, प्रलय आदिकी सम्पूर्ण क्रियाएँ)—इस 'ज्ञान' के विभागको और अधिभूत (सम्पूर्ण पाञ्चभौतिक जगत्), अधिदैव (ब्रह्माजी आदि सभी देवता) और अधियज्ञ (विष्णु तथा उनके सभी रूप)—इस 'विज्ञान' के विभागको जान जाते हैं अर्थात् 'इन सबके रूपमें मैं (भगवान्) ही हूँ'—इस प्रकार मेरे समग्ररूपको तत्त्वसे जान जाते हैं। इस प्रकार मुझे जाननेवाले भक्त अन्तकालमें कुछ भी चिन्तन होनेपर भी योगभ्रष्ट नहीं होते, अपितु मुझे ही प्रात होते हैं। *[जिनकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय किंचिन्मात्र भी कुछ है ही नहीं, उनका मन भगवान्‌को छोड़कर कहाँ जायगा? क्यों जायगा? कैसे जायगा?]*

हरि: ॐ तत्सत्! *हरि: ॐ तत्सत्!!* *हरि: ॐ तत्सत्!!!*

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

आठवाँ अध्याय

(अक्षरब्रह्मयोग)

भगवान्‌के वचनोंको स्पष्टरूपसे समझनेके लिये अर्जुनने प्रश्न किया—हे पुरुषोत्तम! 'ब्रह्म' शब्दसे क्या समझना चाहिये? 'अध्यात्म' शब्दसे आपका क्या अभिप्राय है? 'कर्म' शब्दसे आपका क्या भाव है? 'अधिभूत' का क्या तात्पर्य है? 'अधिदैव' किसको कहा जाता है? 'अधियज्ञ' शब्दसे क्या लेना चाहिये और वह इस देहमें कैसे है? हे मधुसूदन! जिनका अन्त:करण अपने वशमें है, वे अन्तकालमें आपको किस प्रकारसे जानते हैं?

श्रीभगवान् बोले—हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! परम अक्षर अर्थात् निर्गुण-निराकार परमात्माको 'ब्रह्म' कहते है। परा प्रकृति अर्थात् जीवको 'अध्यात्म' कहते हैं। प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाला मेरा संकल्प 'कर्म' कहा जाता है। नाशवान् सृष्टि 'अधिभूत' है। हिरण्यगर्भ ब्रह्मा 'अधिदैव' हैं। इस मनुष्यशरीरमें अन्तर्यामीरूपसे मैं ही 'अधियज्ञ' हूँ। तात्पर्य है कि जैसे एक ही जल-तत्त्व परमाणु, भाप, बादल, वर्षा, ओले आदिके रूपमें अलग-अलग दीखते हुए भी वास्तवमें एक ही है, इसी तरह एक ही परमात्मतत्त्व ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके रूपसे अलग-अलग रूपसे दीखते हुए भी वास्तवमें एक ही है।

जो मनुष्य शरीरके रहते-रहते मुझे प्राप्त नहीं कर सका, वह यदि अन्तकालमें भी मेरा स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है तो मुझे ही प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं है। कारण कि हे कौन्तेय! यह नियम है कि मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिसका भी स्मरण, चिन्तन करते हुए शरीर छोड़ता है, वह उस-उस योनिमें ही चला जाता है। अन्तकालके उस चिन्तनके अनुसार ही उसका मानसिक शरीर बनता है और मानसिक शरीरके अनुसार ही वह दूसरा शरीर धारण करता है। अन्तकाल किसी भी समय आ सकता है; क्योंकि ऐसा कोई समय नहीं है, जिसमें अन्तकाल (मौत) न आये। इसलिये यदि तुम अन्तकालमें मेरा चिन्तन करके मुझे प्राप्त करना चाहते हो तो सब समयमें मेरा ही स्मरण करो और साथ-साथ युद्धरूप अपने कर्तव्यका पालन भी करो। मुझमें अपने मन-बुद्धि अर्पण करनेसे, इनके साथ अपना सम्बन्ध न माननेसे सब समय मेरा ही स्मरण होगा, जिससे तुम नि:सन्देह मुझे ही प्राप्त होओगे।

हे पार्थ! जो समता रखते हुए मनको बार-बार परमात्मामें लगाता है तथा जो एक परमात्माके सिवाय अन्य किसीका चिन्तन नहीं करता, ऐसा साधक 'सगुण-निराकार' परमात्माका चिन्तन करते हुए शरीर छोड़कर उसी परमात्माको प्राप्त हो जाता है। वह सगुण-निराकार परमात्मा सर्वज्ञ, अनादि, सबपर शासन करनेवाला, सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म, सबका धारण-पोषण करनेवाला, अज्ञानसे अत्यन्त परे और सूर्यकी तरह प्रकाश (ज्ञान)-स्वरूप है। ऐसे अचिन्त्य परमात्माका जो चिन्तन करता है, वह भक्तियुक्त मनुष्य अन्तसमयमें मनको परमात्मामें स्थिर करके और योगशक्तिके द्वारा भृकुटीके मध्यमें प्राणोंको अच्छी तरहसे प्रविष्ट करके शरीर छोड़नेपर उस परम दिव्य सगुण-निराकार परमात्माको ही प्राप्त हो जाता है।

वेदोंके ज्ञाता लोग जिस 'निर्गुण-निराकार' परमात्माको अक्षर कहते हैं, वीतराग यति महापुरुष जिसे प्राप्त करते हैं और साधक जिसे प्राप्त करनेकी इच्छा रखते हुए ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, उस अन्तिम तत्त्वको मैं तुम्हारे लिये संक्षेपसे तथा अच्छी तरहसे कहूँगा। इन्द्रियोंके सम्पूर्ण द्वारोंको

रोककर, मनका हृदयमें निरोध करके और प्राणोंको ब्रह्मरन्ध्र (दसवें द्वार)-में रोककर योगधारणामें भलीभाँति स्थित हुआ जो साधक एक अक्षर ब्रह्म 'ॐ' का मानसिक उच्चारण और निर्गुण-निराकारका स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है, वह निर्गुण-निराकार परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

हे पार्थ! (उपर्युक्त प्रकारसे निर्गुण-निराकारको प्राप्त करना सबके लिये बहुत कठिन है, पर मेरी अर्थात् 'सगुण-साकार' की प्राप्ति बहुत सुगम है।) जिसका मन मुझे छोड़कर कहीं नहीं जाता तथा जो नित्य-निरन्तर (अभीसे लेकर मृत्युतक और नींद खुलनेसे लेकर गाढ़ नींद आनेतक) मेरा स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए योगीको मैं सुलभतासे प्राप्त हो जाता हूँ। परम प्रेमसे युक्त होकर मुझे प्राप्त करनेके बाद महात्मालोग इस दु:खोंके घर तथा निरन्तर परिवर्तनशील संसारमें पुन: लौटकर नहीं आते। हे अर्जुन! पृथ्वीसे लेकर ब्रह्मलोकतक जितने भी लोक हैं, वहाँ जानेपर जीवको पुन: लौटकर संसारमें आना पड़ता है; परन्तु हे कौन्तेय! मुझे प्राप्त होनेपर जीवको पुन: लौटकर संसारमें नहीं आना पड़ता।

सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि—इन चार युगोंको एक चतुर्युगी* कहते हैं। ऐसी एक हजार चतुर्युगी बीतनेपर ब्रह्माका एक दिन और एक हजार चतुर्युगी बीतनेपर ब्रह्माकी एक रात होती है। इस गणनाके अनुसार सौ वर्ष बीतनेपर (आयु पूरी होनेपर) ब्रह्मा भी भगवान्‌में लीन हो जाते हैं। इस प्रकार कालके तत्त्वको जाननेवाले मनुष्य ब्रह्मलोकतकके भोगोंको नाशवान् जानकर उन्हें महत्त्व नहीं देते। सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीर ब्रह्माके दिनके आरम्भमें उनके सूक्ष्मशरीरसे उत्पन्न होते हैं तथा ब्रह्माकी रातके आरम्भमें उनके सूक्ष्मशरीरमें लीन हो जाते हैं। हे पार्थ! अनादिकालसे जन्म-मरणके चक्करमें पड़े हुए वही प्राणी बार-बार ब्रह्माके दिनमें उत्पन्न तथा रात्रिमें लीन होते रहते हैं। तात्पर्य है कि जो बार-बार उत्पन्न तथा लीन होता है, वह शरीर-संसार है और जो वही रहता है, वह जीवका असली स्वरूप है। परन्तु ब्रह्माके सूक्ष्मशरीरसे भी अत्यन्त श्रेष्ठ, विलक्षण, अनादि, सत्तारूप जो परमात्मा हैं, वे सम्पूर्ण प्राणियोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होते। उन्हीं परमात्माको अव्यक्त, अक्षर, परमगति आदि अनेक नामोंसे कहा गया है। जिसे प्राप्त होनेपर जीव फिर लौटकर संसारमें नहीं आते, वह मेरा परमधाम है। हे पार्थ! सम्पूर्ण प्राणी जिसके अन्तर्गत हैं और जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, उस परम पुरुष परमात्माको तो अनन्यभक्तिसे ही प्राप्त किया जा सकता है।

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! जिस मार्गमें शरीर छोड़कर गये हुए योगी पीछे लौटकर संसारमें नहीं आते और जिस मार्गमें गये हुए पीछे लौटकर संसारमें आते हैं, उन दोनों मार्गोंको मैं कहता हूँ।

(*शुक्लमार्गका वर्णन—*) जिस मार्गमें प्रकाशस्वरूप अग्नि, दिन, शुक्लपक्ष और छ: महीनोंवाले उत्तरायणके अधिपति देवताओंके द्वारा क्रमश: जीवको आगे ले जाया जाता है, उस मार्गसे (शरीर छोड़कर) गये हुए ब्रह्मवेत्ता पुरुष पहले ब्रह्मलोकमें जाकर रहते हैं। फिर महाप्रलय आनेपर वे ब्रह्माके

---

* सत्ययुग १७ लाख २८ हजार वर्षोंका, त्रेतायुग १२ लाख ९६ हजार वर्षोंका, द्वापरयुग ८ लाख ६४ हजार वर्षोंका और कलियुग ४ लाख ३२ हजार वर्षोंका होता है। इस प्रकार ४३ लाख २० हजार वर्षोंकी एक 'चतुर्युगी' होती है। ऐसी एक हजार चतुर्युगी अर्थात् ४ अरब ३२ करोड़ वर्षोंका ब्रह्माका एक दिन तथा इतने ही वर्षोंकी एक रात होती है। ब्रह्माके इसी दिनको 'कल्प (सर्ग)' और रातको 'प्रलय' कहते हैं। ऐसे सौ वर्ष बीतनेपर (महाप्रलयमें) ब्रह्मा भी लीन हो जाते हैं।

साथ परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।

(कृष्णमार्गका वर्णन—) जिस मार्गमें अन्धकार, रात्रि, कृष्णपक्ष और छः महीनोंवाले दक्षिणायनके अधिपति देवताओंके द्वारा क्रमशः जीवको आगे ले जाया जाता है, उस मार्गसे (शरीर छोड़कर) गया हुआ सकाम पुरुष स्वर्गादि लोकोंमें जाकर वहाँके दिव्य भोग भोगता है। फिर पुण्य क्षीण होनेपर वह पुनः संसारमें लौटकर जन्म-मरणके चक्करमें पड़ जाता है।

इस प्रकार शुक्ल और कृष्ण—ये दोनों मार्ग अनादिकालसे प्राणिमात्रके साथ सम्बन्ध रखनेवाले हैं। इनमेंसे शुक्लमार्गमें जानेवालेको संसारमें लौटना नहीं पड़ता और कृष्णमार्गमें जानेवालेको पुनः संसारमें लौटना पड़ता है। हे पार्थ! इन दोनों मार्गोंके परिणामको जाननेवाला मनुष्य निष्काम हो जाता है, इसलिये वह जन्म-मरणमें ले जानेवाले कृष्णमार्गमें नहीं जाता। अतः हे अर्जुन! तुम भी सब समय निष्काम होकर योग (समता)-में स्थित हो जाओ।

जो मनुष्य इस अध्यायमें आये विषयको जान लेता है, वह सांसारिक भोगोंमें न फँसकर मेरे भजनमें लग जाता है। इसलिये वह वेद, यज्ञ, तप, दान आदिके जो-जो फल कहे गये हैं, उन सबको पार करके सबके आदि परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

हरिः ॐ तत्सत्! *हरिः ॐ तत्सत्!!* *हरिः ॐ तत्सत्!!!*

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

नौवाँ अध्याय

(राजविद्याराजगुह्ययोग)

श्रीभगवान् बोले—यह अत्यन्त गोपनीय 'विज्ञानसहित ज्ञान' मैं तुम्हारे लिये फिर अच्छी तरहसे कहूँगा; क्योंकि तुम दोषदृष्टिसे रहित हो। इसे जानकर तुम जन्म-मरणरूप संसारसे मुक्त हो जाओगे। यह 'विज्ञानसहित ज्ञान' सम्पूर्ण विद्याओंका राजा है; क्योंकि इसे जाननेके बाद फिर कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता। यह सम्पूर्ण गोपनीयोंका भी राजा है; क्योंकि संसारमें इससे बड़ी दूसरी कोई रहस्यकी बात है ही नहीं। यह परम पवित्र तथा अति श्रेष्ठ है। इसका फल भी प्रत्यक्ष है। यह धर्ममय और अविनाशी है। इसे प्राप्त करना भी बहुत सुगम है। हे परन्तप! जो मनुष्य इस विज्ञानसहित ज्ञानकी महिमापर श्रद्धा नहीं रखते, वे मुझे प्राप्त न होकर मृत्युरूप संसारमें ही बार-बार जन्मते-मरते रहते हैं।

यह सब संसार मेरे निराकार-रूपसे व्याप्त है। सम्पूर्ण प्राणी मुझमें स्थित हैं, पर वास्तवमें मैं उनमें तथा वे मुझमें स्थित नहीं हैं अर्थात् मैं उनसे सर्वथा निर्लिप्त हूँ। मैं सम्पूर्ण प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाला, उनको धारण करनेवाला तथा उनका भरण-पोषण करनेवाला हूँ। परन्तु मैं उन प्राणियोंमें स्थित नहीं हूँ अर्थात् उनसे सर्वथा निर्लिप्त हूँ। जैसे सब जगह घूमनेवाली महान् वायु सदा आकाशमें ही रहती है, आकाशसे अलग नहीं हो सकती, ऐसे ही अनेक योनियों तथा लोकोंमें घूमनेवाले सम्पूर्ण प्राणी नित्य-निरन्तर मुझमें ही स्थित रहते हैं, मुझसे अलग नहीं हो सकते—यह बात तुम दृढ़तासे मान लो।

हे कौन्तेय! महाप्रलयके समय (ब्रह्माजीकी सौ वर्षकी आयु पूरी होनेपर) सम्पूर्ण प्राणी अपने-अपने कर्मोंको, स्वभावको लेकर मुझमें लीन हो जाते हैं। फिर महासर्गके समय मैं पुनः उन प्राणियोंके कर्मोंके अनुसार उनकी रचना करता हूँ। इस प्रकार जबतक अपने स्वभावके परवश हुए वे प्राणी मुक्त नहीं होते, तबतक अपनी प्रकृतिको वशमें करके मैं प्रत्येक महासर्गके आरम्भमें उन प्राणियोंकी बार-बार रचना करता रहता हूँ। परन्तु हे धनंजय! उन सृष्टि-रचना आदि कर्मोंमें आसक्त न होनेसे तथा उदासीनकी तरह रहनेसे मुझे वे कर्म बाँधते नहीं। हे कौन्तेय! वास्तवमें देखा जाय तो मेरी प्रकृति ही मुझसे सत्ता-स्फूर्ति पाकर सम्पूर्ण चराचर जगत्की रचना करती है। इसी कारण जगत्में विविध प्रकारसे परिवर्तन हो रहा है। परन्तु 'मैं सम्पूर्ण प्राणियोंका महान् ईश्वर हूँ'—ऐसे मेरे सर्वश्रेष्ठ स्वरूपको न जाननेके कारण अविवेकी लोग मुझे एक साधारण मनुष्य मानकर मेरी अवहेलना करते हैं। ऐसे अविवेकी लोग तीन तरहके स्वभाववाले होते हैं—१) **आसुरी**—अपना ही स्वार्थ सिद्ध करनेवाले २) **राक्षसी**—अपने स्वार्थके लिये दूसरोंका नाश करनेवाले, और ३) **मोहिनी**—बिना कारण दूसरोंको कष्ट पहुँचानेवाले। ऐसे लोगोंकी सब कामनाएँ, सब आशाएँ, सब शुभकर्म और सब ज्ञान व्यर्थ अर्थात् नाशवान् फल देनेवाले होते हैं।

हे पार्थ! जो दैवी सम्पत्तिवाले (सद्गुणी-सदाचारी) महात्मा भक्त हैं, वे मुझे सम्पूर्ण प्राणियोंका आदि तथा अविनाशी समझकर अनन्य मनसे मेरा ही भजन करते हैं। नित्य-निरन्तर मुझमें ही लगे रहनेवाले वे भक्त दृढ़ निश्चयके साथ मेरी प्राप्तिके लिये साधन करते हैं। वे भक्त कभी प्रेमपूर्वक कीर्तन करते हुए तथा कभी मुझे नमस्कार करते हुए निरन्तर मेरी उपासना करते हैं। उनकी सम्पूर्ण क्रियाएँ केवल मेरी प्रसन्नताके लिये ही होती हैं। इनके सिवाय दूसरे ज्ञानयोगी साधक ज्ञानयज्ञसे अर्थात् विवेकपूर्वक असत्का त्याग करते हुए मेरे निर्गुण-निराकार स्वरूपकी अभेदभावसे उपासना करते हैं, और दूसरे कई कर्मयोगी साधक अपनेको सेवक मानकर और संसारको मेरा विराट्रूप मानकर तन-मन-धनसे सबकी सेवामें लगे रहते हैं।

सभी साधक अपनी रुचि, योग्यता तथा श्रद्धा-विश्वासके अनुसार अलग-अलग साधनोंसे एक मेरे ही समग्ररूपकी उपासना करते हैं। कारण कि वैदिक रीतिसे किया जानेवाला 'क्रतु' और पौराणिक रीतिसे किया जानेवाला 'यज्ञ' मैं ही हूँ। पितरोंको अर्पण किया जानेवाला 'स्वधा' और 'औषध' भी मैं ही हूँ। जिनसे यज्ञादि कर्म किये जाते हैं, वे मन्त्र, घृत, अग्नि तथा हवनरूप क्रिया भी मैं ही हूँ। जाननेयोग्य पवित्र ओंकार और ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुर्वेद भी मैं ही हूँ। इस सम्पूर्ण जगत्को धारण करनेवाला 'धाता' भी मैं ही हूँ। इस जगत्का पिता, माता और पितामह (ब्रह्माको भी उत्पन्न करनेवाला) भी मैं ही हूँ। सब प्राणियोंके लिये प्राप्त करनेयोग्य 'गति', जगत्का भरण-पोषण करनेवाला 'भर्ता' और जगत्का मालिक 'प्रभु' भी मैं ही हूँ। सबको ठीक तरहसे जाननेवाला 'साक्षी', सबका निवास, सबका आश्रय और सबका सुहृद् भी मैं ही हूँ। सम्पूर्ण संसार मुझसे ही उत्पन्न होता है और मुझमें ही लीन होता है, इसलिये 'प्रभव' और 'प्रलय' भी मैं ही हूँ। महाप्रलय हो या महासर्ग हो, सारा संसार मुझमें ही रहता है, इसलिये मैं ही 'स्थान' और 'निधान' हूँ। सांसारिक बीज तो वृक्षसे पैदा होता है और वृक्षको पैदा करके नष्ट हो जाता है, पर मैं पैदा नहीं होता और अनन्त सृष्टियाँ पैदा करके भी ज्यों-का-त्यों ही रहता हूँ, इसलिये मैं 'अव्यय बीज' हूँ। हे अर्जुन! संसारके हितके लिये मैं ही सूर्य-रूपसे तपता हूँ तथा जलको ग्रहण करके उसे वर्षा-रूपसे बरसाता हूँ। और तो क्या कहूँ, अमृत और मृत्यु तथा सत् और असत् भी मैं ही हूँ। तात्पर्य है कि सब कुछ मैं ही हूँ; मेरे सिवाय किंचिन्मात्र भी कुछ नहीं है।

जिनके भीतर भोग तथा संग्रहकी कामना होती है, वे लोग मुझसे विमुख होकर स्वर्गादि लोकोंके भोगोंकी प्राप्तिके लिये तीनों वेदोंमें वर्णित यज्ञादि सकाम अनुष्ठान करते हैं। वे वैदिक मन्त्रोंसे सोमरस (सोमवल्ली नामक लताका रस) पीते हैं और यज्ञोंके द्वारा मेरे इन्द्र-रूपका पूजन और स्वर्गप्राप्तिकी प्रार्थना करते हैं। इन पुण्योंके फलस्वरूप उनके स्वर्गके प्रतिबन्धक पाप नष्ट हो जाते हैं और वे स्वर्गलोकमें जाकर वहाँके दिव्य भोगोंको भोगते हैं। जब उनके स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाले पुण्य क्षीण हो जाते हैं, तब वे पुन: मृत्युलोकमें आ जाते हैं। इस प्रकार वेदोंमें वर्णित सकाम शुभकर्मोंमें लगे हुए तथा भोगोंकी कामनावाले वे मनुष्य कोल्हूके बैलकी तरह बार-बार संसारमें घूमते रहते हैं। परन्तु जो मनुष्य केवल मेरा ही आश्रय लेते हैं और मेरा ही चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उन निरन्तर मुझमें लगे हुए अनन्य भक्तोंका योगक्षेम (अप्राप्तकी प्राप्ति और प्राप्तकी रक्षा) मैं स्वयं वहन करता हूँ अर्थात् उन भक्तोंके सब काम मैं स्वयं करता हूँ।

हे कौन्तेय! तत्त्वसे मेरे सिवाय कुछ नहीं होनेसे देवता भी मेरा ही स्वरूप हैं। अत: जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक देवताओंका पूजन करते हैं, वे भी वास्तवमें मेरा ही पूजन करते हैं, पर अज्ञानके कारण वे देवताओंको मुझसे अलग मानते हैं। यद्यपि मैं ही सम्पूर्ण शुभ-कर्मों तथा कर्तव्य-कर्मोंका भोक्ता और सारे संसारका मालिक हूँ, तथापि वे देवताओंके उपासक मुझे तत्त्वसे न जाननेके कारण अपनेको ही भोक्ता और मालिक मान बैठते हैं, जिस कारण उनका पतन हो जाता है। यह नियम है कि जो मनुष्य सकामभावसे देवताओंका पूजन करते हैं, वे मरनेपर देवताओंके पास जाते हैं, जो पितरोंका पूजन करते हैं, वे मरनेपर पितरोंके पास जाते हैं, और जो भूत-प्रेतोंका पूजन करते हैं, वे मरनेपर भूत-प्रेतोंके पास जाते हैं। परन्तु जो मेरा पूजन करते हैं, वे निश्चितरूपसे मेरे पास आते हैं। मेरे पास आनेके बाद उन्हें फिर लौटकर संसारमें नहीं आना पड़ता।

देवताओं आदिके पूजनकी अपेक्षा मेरा पूजन बहुत सुगम भी है। मुझमें तल्लीन हुए मनवाला जो भक्त पत्र, पुष्प, फल, जल आदि सहजरूपसे प्राप्त वस्तुको प्रेमपूर्वक मेरे अर्पण करता है, उसे मैं ग्रहण कर लेता हूँ; क्योंकि मैं प्रेमका भूखा हूँ, वस्तुका नहीं। इसलिये हे कुन्तीपुत्र! तुम जो कुछ करते हो, जो कुछ भोजन करते हो, जो कुछ दान देते हो ओर जो कुछ तप करते हो, वह सब मेरे अर्पण कर दो। इस प्रकार सब पदार्थ और क्रियाएँ मेरे अर्पण करनेसे तुम सम्पूर्ण कर्मोंके बन्धनसे तथा अनन्त जन्मोंके शुभ और अशुभ कर्मोंके सुख-दु:खरूप फलसे मुक्त हो जाओगे। तात्पर्य है कि अपनेसहित सब कुछ मेरे अर्पण करनेसे तुम समस्त बन्धनोंसे छूटकर मुझे प्राप्त हो जाओगे।

मैं सम्पूर्ण प्राणियोंमें समान हूँ। उन प्राणियोंमें मेरा न तो किसीमें राग है और न किसीमें द्वेष है। परन्तु जो प्रेमपूर्वक मेरा भजन करते हैं, केवल मुझे ही अपना मानते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें हूँ अर्थात् मैं उनमें विशेषरूपसे प्रकट हूँ।

यदि कोई दुराचारी-से-दुराचारी मनुष्य भी 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—इस प्रकार अनन्यभक्त होकर मेरा भजन करता है, उसे भी साधु ही मानना चाहिये। कारण कि उसने दृढ़तासे यह निश्चय कर लिया है कि अब मुझे केवल परमात्माकी तरफ ही चलना है। इस दृढ़ निश्चयके कारण वह बहुत जल्दी धर्मात्मा हो जाता है और उसे सदा रहनेवाली शान्ति प्राप्त हो जाती है। हे कुन्तीनन्दन! मेरे भक्तका पतन नहीं होता—ऐसी तुम प्रतिज्ञा करो; क्योंकि तुम भक्त हो और भक्तकी प्रतिज्ञाको मैं भी टाल नहीं सकता। तात्पर्य है कि दुराचारी तो मेरा भक्त बन सकता है, पर भक्त कभी दुराचारी नहीं बन सकता। हे पृथानन्दन! पशु-पक्षी, असुर-राक्षस आदि पापयोनिवाले जीव और स्त्रियाँ, वैश्य तथा शूद्र—ये सभी मेरे सर्वथा शरण होकर नि:सन्देह परम गतिको प्राप्त

हो जाते हैं। फिर जो पवित्र आचरणोंवाले ब्राह्मण और ऋषिस्वरूप क्षत्रिय हैं, वे मेरे भक्त होकर परमगतिको प्राप्त हो जायँ, इसमें तो कहना ही क्या है! इसलिये नाशवान् तथा सुखसे रहित इस मनुष्यशरीरमें आकर तुम मेरा भजन करो।

[कैसा ही जन्म हो, कैसी ही जाति हो और पूर्वजन्मके कितने ही पाप हों, पर भगवान्‌की भक्तिके मनुष्यमात्र अधिकारी हैं। दुराचारी, पापयोनि, स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र, ब्राह्मण और क्षत्रिय—ये सातों भक्तिमें एक हो जाते हैं, इनमें कोई भेद नहीं रहता। जैसे माँकी गोदमें जानेके लिये किसी भी बच्चेके लिये मनाही नहीं है; क्योंकि वे बच्चे माँके ही हैं। ऐसे ही भगवान्‌का अंश होनेसे प्राणिमात्रके लिये भगवान्‌की तरफ चलनेमें (भगवान्‌की ओरसे) कोई मनाही नहीं है। इसलिये भगवान्‌की तरफ चलनेमें किसीको कभी किंचिन्मात्र भी निराश नहीं होना चाहिये।]

तुम मेरे भक्त हो जाओ अर्थात् 'मैं केवल भगवान्‌का हूँ'—इस प्रकार मुझे अपना मान लो, मुझमें ही अपना मन लगाओ, अपनी सब क्रियाओंसे मेरा ही पूजन करो और मुझे ही नमस्कार करो अर्थात् मेरे प्रत्येक विधानमें प्रसन्न रहो। इस प्रकार अपने-आपको मुझमें लगाकर तथा मेरे परायण होकर तुम मुझे ही प्राप्त हो जाओगे।

हरिः ॐ तत्सत्! *हरिः ॐ तत्सत्!!* *हरिः ॐ तत्सत्!!!*

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

दसवाँ अध्याय

(विभूतियोग)

जैसे भक्तको भगवान्‌की बात सुनते हुए तृप्ति नहीं होती, ऐसे ही अपने प्रिय भक्त अर्जुनके प्रति अपने हृदयकी बात कहते-कहते भगवान्‌को तृप्ति नहीं हो रही है। अतः भगवान् अर्जुनके बिना पूछे ही कृपापूर्वक अपनी तरफसे कहना आरम्भ करते हैं—हे महाबाहो! मेरे परम वचनको तुम फिर सुनो, जिसे मैं तुम्हारे हितके लिये कहूँगा; क्योंकि तुम मुझमें अत्यन्त प्रेम रखनेवाले हो। मेरे समग्ररूपसे प्रकट होनेको न देवता जानते हैं और न महर्षि ही जानते हैं; क्योंकि मैं सब प्रकारसे देवताओं और महर्षियोंका भी आदि हूँ। जो मनुष्य मुझे अजन्मा, अविनाशी और सम्पूर्ण लोकोंका महान् ईश्वर जानता है अर्थात् सन्देह-रहित स्वीकार कर लेता है, वह ज्ञानवान् मनुष्य सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है।

बुद्धि, ज्ञान, मोहरहित होना, क्षमा, सत्य, इन्द्रियोंका वशमें होना, मनका वशमें होना, सुख, दुःख, उत्पत्ति, विनाश, भय, अभय, अहिंसा, समता, सन्तोष, तप, दान, यश और अपयश—प्राणियोंके ये अनेक प्रकारके अलग-अलग बीस भाव मुझसे ही होते हैं। इन सबके मूलमें मैं ही हूँ। केवल ये भाव ही नहीं, जो मुझमें श्रद्धा-भक्ति रखते हैं और जिनकी संसारमें यह सम्पूर्ण प्रजा है, वे सात महर्षि और उनसे भी पहले होनेवाले चार सनकादि (सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार) ऋषि तथा चौदह मनु भी मेरे मनसे उत्पन्न हुए हैं। संसारमें जो कुछ विलक्षणता, विशेषता देखनेमें आती है, वह सब मेरा 'योग' (सामर्थ्य) है, और उस योगसे प्रकट होनेवाली विशेषता मेरी 'विभूति'

(ऐश्वर्य) है—इस प्रकार जो मनुष्य जान लेता है अर्थात् सन्देह-रहित स्वीकार कर लेता है, उसकी मुझमें दृढ़ भक्ति हो जाती है, इसमें सन्देह नहीं है।

मैं संसारमात्रकी उत्पत्तिका मूल कारण हूँ और मुझसे ही संसारकी सम्पूर्ण चेष्टाएँ हो रही हैं—ऐसा माननेवाले बुद्धिमान् भक्त मुझमें ही श्रद्धा-प्रेम रखते हुए मेरा ही भजन करते हैं। वे मुझमें मनवाले तथा मुझमें प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्त आपसमें मेरे गुण, प्रभाव, लीला आदिको जनाते हुए और उनका कथन करते हुए नित्य-निरन्तर सन्तुष्ट रहते हैं और मुझमें ही प्रेम करते हैं। उन नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक मेरा भजन करनेवाले भक्तोंको मैं कृपापूर्वक वह बुद्धियोग (समता अथवा कर्मयोग) देता हूँ, जिससे उन्हें मेरी प्राप्ति हो जाती है। इतना ही नहीं, उन भक्तोंपर कृपा करनेके लिये उनके भीतर रहनेवाला मैं स्वयं उनके अज्ञानजन्य अन्धकारको ज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ अर्थात् उन्हें तत्त्वज्ञान करा देता हूँ। तात्पर्य है कि अपने आश्रित भक्तोंको मैं स्वयं कृपा करके समता (कर्मयोग) और तत्त्वज्ञान (ज्ञानयोग)—दोनों प्रदान कर देता हूँ, जिससे उनमें किसी प्रकारकी कोई कमी न रहे।

भक्तोंपर भगवान्की विलक्षण कृपाकी बात सुनकर अर्जुन गदगद् होकर भगवान्की स्तुति करने लगे—हे प्रभो! परम ब्रह्म (निर्गुण-निराकार), परम धाम (सगुण-निराकार)और महान् पवित्र (सगुण-साकार) आप ही हैं। सब-के-सब ऋषि, देवर्षि नारद, असित ऋषि, देवल ऋषि तथा महर्षि वेदव्यासजी भी आपको शाश्वत, दिव्य पुरुष, आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापक कहते हैं, तथा स्वयं आप भी मुझसे ऐसा ही कहते हैं। हे केशव! मुझसे आप जो कुछ कह रहे हैं, यह सब मैं सत्य मानता हूँ। हे भगवन्! आपके प्रकट होनेको न तो दिव्यशक्तिवाले देवता जानते हैं और न मायाशक्तिवाले दानव ही जानते हैं। तात्पर्य है कि मनुष्य, देवता, दानव आदि कोई भी अपनी शक्ति, योग्यता, बुद्धि आदिसे आपको नहीं जान सकता। हे भूतभावन (सम्पूर्ण प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाले)! हे भूतेश (सम्पूर्ण प्राणियोंके मालिक)! हे देवदेव (सम्पूर्ण देवताओंके मालिक)! हे जगत्पते (जगत्का पालन-पोषण करनेवाले)! हे पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही अपने-आपसे अपने-आपको जानते हैं। इसलिये जिन विभूतियोंसे आप इन सम्पूर्ण लोकोंको व्याप्त करके स्थित हैं, उन सभी अपनी दिव्य विभूतियोंको सम्पूर्णरूपसे आप ही बता सकते हैं। हे योगिन्! हरदम सांगोपांग चिन्तन करता हुआ मैं आपको कैसे जानूँ? और हे भगवन्! किन-किन रूपोंमें मैं आपका चिन्तन करूँ? हे जनार्दन! आप अपने योग (सामर्थ्य) और विभूतियोंको पुनः विस्तारसे कहिये; क्योंकि आपके अमृतमय वचन सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं हो रही है।

अर्जुनकी प्रार्थना स्वीकार करते हुए श्रीभगवान् बोले—हाँ, ठीक है। पर मैं अपनी दिव्य विभूतियोंको तेरे लिये संक्षेपसे ही कहूँगा; क्योंकि हे कुरुश्रेष्ठ! मेरी विभूतियोंके विस्तारका अन्त नहीं है। हे गुडाकेश (नींदको जीतनेवाले अर्जुन)! सम्पूर्ण प्राणियोंके आदि, मध्य तथा अन्तमें मैं ही हूँ। सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित 'आत्मा' भी मैं ही हूँ। अदितिके पुत्रोंमें 'विष्णु' (वामन) और प्रकाशमान वस्तुओंमें किरणोंवाला 'सूर्य' भी मैं हूँ। उन्चास मरुतोंका 'तेज' और सत्ताईस नक्षत्रोंका अधिपति 'चन्द्रमा' भी मैं हूँ। वेदोंमें 'सामवेद', देवताओंमें 'इन्द्र', इन्द्रियोंमें 'मन', प्राणियोंमें 'प्राणशक्ति', ग्यारह रुद्रोंमें 'शंकर', यक्ष-राक्षसोंमें 'कुबेर',आठ वसुओंमें 'अग्नि' और शिखरवाले पर्वतोंमें 'सुमेरु' भी मैं हूँ।

हे पार्थ! पुरोहितोंमें मुख्य 'बृहस्पति' को मेरा स्वरूप समझो। सेनापतियोंमें 'स्कन्द' (कार्तिकेय), जलाशयोंमें 'समुद्र', महर्षियोंमें 'भृगु' और वाणियों (शब्दों) में 'एक अक्षर' (प्रणव अर्थात् ओंकार) मैं हूँ। सम्पूर्ण यज्ञोंमें 'जपयज्ञ', स्थिर रहनेवालोंमें 'हिमालय', वृक्षोंमें 'पीपल', देवर्षियोंमें 'नारद',

गन्धर्वोंमें 'चित्ररथ' और जन्मजात सिद्धोंमें 'कपिल मुनि' मैं हूँ। घोड़ोंमें समुद्र-मन्थनके समय अमृतके साथ प्रकट होनेवाले 'उच्चैःश्रवा' नामक घोड़ेको, श्रेष्ठ हाथियोंमें 'ऐरावत' नाम हाथीको और मनुष्योंमें सम्पूर्ण प्रजाका पालन, संरक्षण तथा शासन करनेवाले 'राजा' को मेरी विभूति मानो। अस्त्र-शस्त्रोंमें दधीचि ऋषिकी हड्डियोंसे बना 'वज्र', धेनुओंमें समुद्र-मन्थनसे प्रकट हुई 'कामधेनु' और धर्मके अनुकूल सन्तान-उत्पत्तिका हेतु 'कामदेव' मैं हूँ। सर्पोंमें 'वासुकी', नागोंमें 'शेषनाग', जल-जन्तुओंका अधिपति 'वरुण', सात पितरोंमें 'अर्यमा' और प्राणियोंपर शासन करनेवालोंमें 'यमराज' मैं हूँ। दैत्योंमें 'प्रह्लाद', गणना करनेवालोंमें 'काल', पशुओंमें 'सिंह', पक्षियोंमें 'गरुड़', पवित्र करनेवालोंमें 'वायु', शस्त्रधारियोंमें 'राम', जल-जन्तुओंमें 'मगर' और नदियोंमें 'गंगा' मैं हूँ।

हे अर्जुन! जितनी भी सृष्टियाँ उत्पन्न होती हैं, उन सबके आदि, मध्य तथा अन्तमें मैं ही हूँ। विद्याओंमें मनुष्यका कल्याण करनेवाली 'अध्यात्मविद्या' और परस्पर शास्त्रार्थ करनेवालोंका तत्त्व-निर्णयके लिये किया जानेवाला 'वाद' मैं हूँ। अक्षरोंमें 'अकार' और समासोंमें 'द्वन्द्व समास' मैं हूँ। 'अक्षयकाल' अर्थात् कालका भी महाकाल तथा सब ओर मुखवाला 'धाता' अर्थात् सबका पालन-पोषण करनेवाला भी मैं ही हूँ। सबका हरण करनेवाली 'मृत्यु' और सभी उत्पन्न होनेवालोंकी उत्पत्तिका हेतु मैं हूँ। स्त्री-जातिमें कीर्ति, श्री, वाक् (वाणी), स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा—ये सातों (स्त्रियाँ तथा गुण) मैं हूँ। सामवेदमें गायी जानेवाली श्रुतियोंमें 'बृहत्साम', छन्दोंमें 'गायत्री', बारह महीनोंमें 'मार्गशीर्ष' और छः ऋतुओंमें 'वसन्त' मैं हूँ। छल करनेवालोंमें 'जूआ', तेजस्वियोंमें 'तेज', जीतनेवालोंकी 'विजय', निश्चय करनेवालोंका 'निश्चय' और सात्त्विक मनुष्योंका 'सात्त्विक भाव' मैं हूँ। वृष्णिवंशियोंमें 'वासुदेव' (मैं), पाण्डवोंमें 'अर्जुन' (तुम), मुनियोंमें 'वेदव्यास' और शास्त्रीय सिद्धान्तोंको ठीक तरहसे जाननेवाले पण्डितोंमें 'शुक्राचार्य' भी मैं हूँ। दमन करनेवालोंमें 'दण्डनीति', विजय चाहनेवालोंमें 'नीति', गुप्त रखनेयोग्य भावोंमें 'मौन' और ज्ञानवानोंमें 'ज्ञान' मैं ही हूँ। और तो क्या कहूँ, जितने भी प्राणी हैं, उन सबका 'बीज' (मूल कारण) भी मैं ही हूँ; क्योंकि संसारमें चर-अचर जो कुछ भी देखनेमें आता है, वह सब कुछ मैं ही हूँ।

[*भगवान्ने यहाँ अपनी बयासी विभूतियोंका वर्णन किया है। इन सब विभूतियोंमें जो भी विशेषता, विलक्षणता, महत्ता, मुख्यता दीखती है, वह इनकी व्यक्तिगत नहीं है, प्रत्युत भगवान्की ही है और भगवान्से ही आयी है। अतः संसारमें जहाँ-जहाँ विशेषता दिखायी दे, वहाँ-वहाँ वस्तु, व्यक्ति आदिकी विशेषता न देखकर भगवान्की ही विशेषता देखनी चाहिये और भगवान्की ही तरफ वृत्ति जानी चाहिये। वास्तवमें विभूति-वर्णनका तात्पर्य संसारकी सत्ता, महत्ता तथा प्रियताको हटाकर मनुष्यको* ***'वासुदेवः सर्वम्'*** *का अनुभव कराना है, जो गीताका खास ध्येय है।*]

हे परन्तप! मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है। मैंने तुम्हारे सामने अपनी विभूतियोंका जो विस्तार कहा है, यह तो केवल संक्षेपसे नाममात्र कहा है। संसारमात्रमें जिस-किसी प्राणी-पदार्थमें जो कुछ भी ऐश्वर्य दीखे, शोभा या सौन्दर्य दीखे, बल दीखे, उन सबको मेरे ही तेज (योग अर्थात् सामर्थ्य)-के किसी एक अंशसे उत्पन्न हुई समझो। जब मैं अपने किसी एक अंशमें सम्पूर्ण जगत् (अनन्त ब्रह्माण्डों) को व्याप्त करके साक्षात् तुम्हारे सामने बैठा हूँ, फिर तुम्हें इस प्रकारकी बहुत-सी बातें जाननेकी क्या जरूरत है?

हरिः ॐ तत्सत्! *हरिः ॐ तत्सत्!!* *हरिः ॐ तत्सत्!!!*

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

ग्यारहवाँ अध्याय

(विश्वरूपदर्शनयोग)

अनन्त ब्रह्माण्ड जिनके शरीरके किसी भी एक अंशमें विद्यमान हैं, वे भगवान् मेरे सारथि बनकर हाथमें घोड़ोंकी लगाम तथा चाबुक लिये बैठे हैं और मेरी आज्ञाका पालन करते हैं—इस तरफ दृष्टि जाते ही अर्जुन भगवान्‌की महती कृपाको देखकर भावविभोर हो गये और बोले—केवल मुझपर कृपा करनेके लिये आपने जो परम गोपनीय आध्यात्मिक बात (कि सबके मूलमें मैं ही हूँ) कही है, उससे मेरा मोह चला गया है। कारण कि हे कमलनयन! मैंने आपसे प्राणियोंकी उत्पत्ति तथा प्रलयका विस्तारसे वर्णन सुना है और आपका अविनाशी माहात्म्य भी सुना है। हे पुरुषोत्तम! आपने (सातवेंसे दसवें अध्यायतक) मुझसे अपने अलौकिक प्रभावका जो कुछ वर्णन किया है, वह ठीक ऐसा ही है। हे परमेश्वर! अब मैं आपका वह ईश्वरीय रूप देखना चाहता हूँ, जिसके एक अंशमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड व्याप्त हैं। हे प्रभो! यदि आप ऐसा मानते हैं कि मैं आपके उस ईश्वरीय रूपको देख सकता हूँ, तो फिर हे योगेश्वर! आप अपने उस अविनाशी रूपके दर्शन कराइये।

अर्जुनकी प्रार्थना सुनकर (उन्हें विराट्‌रूप देखनेकी आज्ञा देते हुए) श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ! तुम मेरे एक नहीं, सैकड़ों-हजारों ऐसे अलौकिक रूपोंको देखो, जिनकी बनावट भी तरह-तरहकी है, रंग भी तरह-तरहके हैं और आकृतियाँ भी तरह-तरहकी हैं। हे भारत! मेरे उन दिव्य रूपोंमें तुम बारह आदित्य, आठ वसु, ग्यारह रुद्र और दो अश्विनीकुमार—इन तैंतीस कोटि (तैंतीस प्रकार)-के देवताओंको और उन्चास मरुद्‌गणोंको भी देखो। इनके सिवाय जिन्हें तुमने पहले कभी नहीं देखा है, ऐसे आश्चर्यजनक रूपोंको भी तुम प्रत्यक्ष देख लो। हे गुडाकेश! तुम मेरे इस शरीरके किसी भी एक अंशमें चराचर-सहित सम्पूर्ण जगत्‌को अभी देख लो, इसमें देरीका काम नहीं है। इसके सिवाय तुम्हारे मनमें और भी जो कुछ (युद्धका परिणाम) देखनेकी इच्छा हो, वह भी देख लो।

[*भगवान्‌ने बार-बार अर्जुनको अपना विश्वरूप देखनेकी आज्ञा दी, पर अर्जुनको कुछ भी दीखा नहीं। इसलिये भगवान् बोले —*] परन्तु तुम अपनी इन आँखों (चर्मचक्षुओं)-से मेरे दिव्य रूपको नहीं देख सकते, इसलिये मैं तुम्हें दिव्य चक्षु देता हूँ, जिससे तुम मेरी ईश्वरीय शक्तिको देख सकोगे।

[*ऐसा कहकर भगवान् अर्जुनको दिव्य चक्षु देते हैं अर्थात् अर्जुनके चर्मचक्षुओंमें दिव्य शक्ति प्रदान करते हैं। संजयको भी वेदव्यासजी महाराजसे दिव्यदृष्टि मिली हुई थी, इसलिये अर्जुनके साथ-साथ वे भी भगवान्‌के विराट्‌रूपके दर्शन करते हैं। अब संजय उसी विराट्‌रूपका वर्णन धृतराष्ट्रको सुनाते हैं।*]

संजय बोले—हे राजन्! अर्जुनको दिव्यदृष्टि देकर महायोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें अपना परम ईश्वरीय विराट्‌रूप दिखाया। जिनके अनेक मुख तथा नेत्र हैं, अनेक तरहके अद्भुत रूप हैं, अनेक अलौकिक आभूषण हैं, हाथोंमें अनेक दिव्य अस्त्र-शस्त्र उठाये हुए हैं और जिनके गलेमें अनेक तरहकी दिव्य मालाएँ हैं, जो अलौकिक वस्त्र पहने हुए हैं, जिनके ललाट तथा शरीरपर दिव्य चन्दन, कुंकुम आदि लगा हुआ है, ऐसे सर्वथा आश्चर्यमय तथा सब तरफ मुखोंवाले अपने अनन्त दिव्य रूपको भगवान्‌ने दिखाया। यदि आकाशमें एक साथ हजारों सूर्योंका उदय हो जाय,

तो भी उन सबका प्रकाश मिलकर उस विराट्रूपके प्रकाशकी बराबरी नहीं कर सकता।

अर्जुनने देवोंके देव भगवान्के शरीरके एक अंशमें सम्पूर्ण जगत्को अनेक प्रकारके विभागोंमें विभक्त देखा। अर्जुन भगवान्के शरीरमें जहाँ भी दृष्टि डालते हैं, वहीं उन्हें अनन्त जगत् दीखता है। जिसकी कल्पना भी नहीं की थी, ऐसा विराट्रूप देखकर अर्जुन बहुत आश्चर्यचकित हो गये और उनके शरीरमें रोंगटे खड़े हो गये। वे हाथ जोड़कर और सिर झुकाकर प्रणाम करते हुए विराट्रूप भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करने लगे।

अर्जुन बोले—(*भगवान्के सौम्य देवरूपका दर्शन और वर्णन—*) हे देव! मैं आपके शरीरमें सम्पूर्ण देवताओंको, प्राणियोंके विशेष-विशेष समुदायोंको, कमलासनपर बैठे हुए ब्रह्माजीको, कैलासपर बैठे शंकरजीको, सम्पूर्ण ऋषियोंको और पाताललोकमें रहनेवाले दिव्य सर्पोंको भी देख रहा हूँ। हे विश्वरूप! हे विश्वेश्वर! मैं आपको अनेक हाथों, पेटों, मुखों और नेत्रोंवाला तथा सब तरफसे अनन्त रूपोंवाला देख रहा हूँ। मुझे आपका न तो आदि, न मध्य और न अन्त ही दिखायी दे रहा है। मैं आपको सिरपर मुकुट और हाथोंमें गदा, चक्र, शंख तथा पद्म धारण किये हुए देख रहा हूँ। इसके सिवाय मैं आपको अनन्त तेजवाला, सब तरफ प्रकाश करनेवाले, देदीप्यमान अग्नि तथा सूर्यके समान कान्तिवाले, नेत्रोंके द्वारा कठिनतासे देखे जानेयोग्य और सब तरफसे अप्रमेय (अपरिमित) देख रहा हूँ। आप ही जाननेयोग्य परम अक्षर ब्रह्म (निर्गुण-निराकार) हैं, आप ही सम्पूर्ण संसारके परम आधार (सगुण-निराकार) हैं, आप ही सनातन धर्मके रक्षक (सगुण-साकार) हैं, और आप ही अविनाशी सनातन पुरुष हैं—ऐसा मैं मानता हूँ।

(*भगवान्के उग्ररूपका दर्शन और वर्णन—*) मैं आपको आदि, मध्य तथा अन्तसे रहित, अनन्त प्रभावशाली, अनन्त भुजाओंवाले, चन्द्र तथा सूर्यरूप नेत्रोंवाले, प्रज्वलित अग्निरूप मुखोंवाले और अपने तेजसे सम्पूर्ण संसारको तपानेवाले देख रहा हूँ। हे महात्मन्! स्वर्ग तथा पृथ्वीके बीचका अन्तराल और दसों दिशाएँ एक आपसे ही परिपूर्ण हैं। आपके इस अद्भुत उग्ररूपको देखकर तीनों लोक भयभीत हो रहे हैं। जब मैं स्वर्गमें गया था, उस समय मैंने जिन देवताओंको देखा था, वे ही सब देवतालोग आपके स्वरूपमें प्रविष्ट होते हुए दीख रहे हैं। उनमेंसे कई तो भयभीत होकर हाथ जोड़े हुए आपका गुणगान कर रहे हैं। महर्षियों और सिद्धोंके समुदाय 'कल्याण हो! मंगल हो!' ऐसा कहकर उत्तम-उत्तम स्तोत्रोंके द्वारा आपकी स्तुति कर रहे हैं। जो ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु, बारह साध्यगण, दस विश्वेदेव, दो अश्विनीकुमार, उन्चास मरुद्गण और सात पितर तथा गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धोंके समुदाय हैं, वे सभी आश्चर्यचकित होकर आपको देख रहे हैं।

(*भगवान्के अत्यन्त उग्ररूपका दर्शन और वर्णन—*) हे महाबाहो! आपके बहुत-से मुखों, नेत्रों, भुजाओं, जंघाओं, चरणों, उदरों तथा भयंकर दाढ़ोंवाले महान् उग्र रूपको देखकर सब प्राणी भयभीत हो रहे हैं तथा मैं स्वयं भी भयभीत हो रहा हूँ। हे विष्णो! आपके देदीप्यमान वर्णोंवाले, आकाशको छूनेवाले, फैलाये हुए मुखवाले और देदीप्यमान विशाल नेत्रोंवाले भयंकर रूपको देखकर मैं भीतरसे बहुत भयभीत हो रहा हूँ और मुझे धैर्य तथा शान्ति भी नहीं मिल रही है। आपके प्रलयकी अग्निके समान प्रज्वलित और दाढ़ोंके कारण भयानक मुखोंको देखकर मुझे न तो दिशाओंका ज्ञान हो रहा है और न शान्ति ही मिल रही है। इसलिये हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न होइये। हमारे पक्षके मुख्य-मुख्य योद्धाओंके सहित भीष्म, द्रोण और कर्ण भी आपमें प्रवेश कर रहे हैं। राजाओंके समुदायोंके सहित धृतराष्ट्रके वे सब-के-सब पुत्र आपके विकराल दाढ़ोंवाले भयंकर मुखोंमें बड़ी तेजीसे

प्रवेश कर रहे हैं। उनमेंसे कई-एक तो चूर्ण हुए सिरोंसहित आपके दाँतोंके बीचमें फँसे हुए दीख रहे हैं। जैसे नदियोंके बहुत-से जलके प्रवाह स्वाभाविक ही समुद्रकी तरफ दौड़ते हैं, ऐसे ही संसारके वे (धर्मकी दृष्टिसे युद्ध करनेवाले भीष्म, द्रोण आदि) महान् शूरवीर आपके देदीप्यमान मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं। जैसे पतंगे मोहवश अपना नाश करनेके लिये बड़े वेगसे दौड़ते हुए प्रज्वलित अग्निमें प्रवेश करते हैं, ऐसे ही ये (राज्य-लोभकी दृष्टिसे युद्ध करनेवाले दुर्योधन आदि) सब लोग मोहवश अपना नाश करनेके लिये बड़े वेगसे दौड़ते हुए आपके मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं। आप अपने प्रज्वलित मुखोंके द्वारा सम्पूर्ण लोकोंका भक्षण करते हुए उन्हें सब तरफसे बार-बार चाट रहे हैं। हे विष्णो! आपका उग्र प्रकाश अपने तेजसे सम्पूर्ण जगत्‌को परिपूर्ण करके सबको तपा रहा है।

(*भगवान्‌का अत्यन्त भयंकर उग्ररूप देखकर अर्जुन इतने घबरा गये कि अपने ही सखा भगवान् श्रीकृष्णसे पूछने लगे—*) हे देवश्रेष्ठ! आपको नमस्कार है। आप प्रसन्न होइये। मुझे यह बताइये कि उग्ररूपवाले आप कौन हैं? मैं आपको तत्त्वसे जानना चाहता हूँ; क्योंकि मैं नहीं जानता कि वास्तवमें आप क्या करना चाहते हैं?

श्रीभगवान् बोले—मैं सम्पूर्ण लोकोंका नाश करनेके लिये बढ़ा हुआ काल हूँ और इस समय इन सब लोगोंका नाश करनेके लिये यहाँ आया हूँ। तुम्हारे विपक्षमें जो योद्धालोग खड़े हैं, वे सब तुम्हारे युद्ध किये बिना भी जीवित नहीं रहेंगे; क्योंकि ये सभी मेरे द्वारा पहलेसे ही मारे हुए हैं। इसलिये तुम युद्धके लिये खड़े हो जाओ और यशको प्राप्त करो तथा शत्रुओंको जीतकर धन-धान्यसे सम्पन्न राज्यको भोगो। हे सव्यसाचिन् (दोनों हाथोंसे बाण चलानेवाले) अर्जुन! तुम इनको मारनेमें निमित्तमात्र बन जाओ अर्थात् अपनी पूरी शक्ति लगा दो, पर अभिमान मत करो। द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्य जितने विपक्षके नामी शूरवीर हैं, वे सभी मेरे द्वारा पहलेसे ही मारे जा चुके हैं। उन मेरे द्वारा मारे हुए शूरवीरोंको ही तुम मारो। तुम व्यथा मत करो और युद्ध करो। युद्धमें तुम निःसन्देह शत्रुओंको जीतोगे।

संजय बोले—भगवान् केशवके ये वचन सुनकर भयसे काँपते हुए किरीटधारी अर्जुन हाथ जोड़कर नमस्कार करके और भयभीत होते हुए भी फिर प्रणाम करके गद्‌गद वाणीसे भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करने लगे।

अर्जुन बोले—हे अन्तर्यामी भगवन्! भक्तोंके द्वारा आपके नाम, गुण आदिका कीर्तन करनेसे यह सम्पूर्ण जगत् हर्षित हो रहा है और आपमें मन तल्लीन होनेसे वह प्रेमको प्राप्त हो रहा है। जितने राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच हैं, वे सब-के-सब आपके नाम, गुण आदिके कीर्तनसे भयभीत होकर दसों दिशाओंमें भाग रहे हैं, और सिद्धों, सन्त-महात्माओंके समुदाय आपको नमस्कार कर रहे हैं। हे महात्मन्! आप गुरुओंके भी गुरु और सृष्टिकर्ता ब्रह्माको भी उत्पन्न करनेवाले हैं, इसलिये आपको नमस्कार करना उचित ही है। हे अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास! आप अक्षरस्वरूप हैं। आप सत् भी हैं, असत् भी हैं तथा सत्-असत्‌से परे भी जो कुछ है, वह भी आप ही हैं। आप ही सम्पूर्ण देवताओंके आदिदेव हैं। आप ही सदासे रहनेवाले पुराणपुरुष हैं। आप ही सम्पूर्ण संसारके परम आधार हैं। आप ही सबको जाननेवाले तथा सबके द्वारा जाननेयोग्य हैं। आप ही परम धाम हैं। हे अनन्तरूप! संसारके कण-कणमें आप ही व्याप्त हो रहे हैं। आप ही वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, दक्ष आदि प्रजापति और प्रपितामह (परदादा) ब्रह्माजीके भी पिता हैं। आपको हजारों बार नमस्कार हो! नमस्कार हो! और फिर भी आपको बार-बार नमस्कार हो! नमस्कार हो! हे सर्वस्वरूप! आपको आगेसे भी नमस्कार हो और पीछेसे भी नमस्कार हो! आपको सब ओरसे नमस्कार हो!

हे अनन्त शक्तिवाले! आप असीम पराक्रमवाले हैं। आपने सम्पूर्ण संसारको व्याप्त कर रखा है; अतः सब कुछ आप ही हैं।

हे अच्युत! आपकी ऐसी विलक्षण महिमा और स्वरूपको न जानते हुए पहले मैंने आपको सखा मानकर प्रमादसे अथवा प्रेमसे बिना सोचे-समझे 'हे कृष्ण! हे यादव! हे सखे!' इस प्रकार जो कुछ कहा है; और आपको बरारबरीका साधारण मित्र समझकर मैंने चलते-फिरते, सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते समय अकेले अथवा सखाओं, कुटुम्बियों आदिके सामने हँसी-दिल्लगीमें आपका जो अपमान किया है, हे अप्रमेयस्वरूप! उन सबके लिये मैं आपसे क्षमा माँगता हूँ।

इस चराचर संसारके पिता भी आप हैं, पूजनीय भी आप हैं और गुरुओंके महान् गुरु भी आप ही हैं। हे अनन्त प्रभावशाली भगवन्! इस त्रिलोकीमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर आपसे अधिक तो हो ही कैसे सकता है! इसलिये स्तुति करनेयोग्य आप ईश्वरको मैं शरीरसे लम्बा पड़कर प्रणाम करके प्रसन्न करना चाहता हूँ। जैसे पिता पुत्रके, मित्र मित्रके तथा पति पत्नीके अपमानको सह लेता है अर्थात् क्षमा कर देता है, ऐसे ही हे देव! आप भी मेरे द्वारा किये गये अपमानको क्षमा कर लीजिये। जिसे पहले कभी नहीं देखा, उस आश्चर्यजनक रूपको देखकर मैं हर्षित हो रहा हूँ, पर साथ-ही-साथ उस रूपकी भयंकरताको देखकर मेरा मन भयसे अत्यन्त व्याकुल हो रहा है। इसलिये हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न हो जाइये और मुझे अपने उसी सौम्य देवरूप (विष्णुरूप) को पुनः दिखाइये, जिसे मैंने अभी आरम्भमें देखा था। मैं आपको वैसे ही सिरपर मुकुट और हाथोंमें गदा-चक्र-शंख-पद्म लिये देखना चाहता हूँ। इसलिये हे सहस्रबाहो! हे विश्वमूर्ते! आप उसी चतुर्भुजरूपसे प्रकट हो जाइये।

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! तुम भयभीत मत होओ; क्योंकि मैंने प्रसन्न होकर ही अपनी सामर्थ्यसे तुम्हें यह अत्यन्त श्रेष्ठ, तेजस्वरूप, सबका आदि और अनन्त विश्वरूप दिखाया है। इस प्रकारके विश्वरूपको तुम्हारे सिवाय पहले किसीने नहीं देखा है। हे कुरुश्रेष्ठ! मनुष्यलोकमें इस प्रकारके विश्वरूपको कोई वेदों तथा शास्त्रोंके अध्ययनसे, यज्ञसे, दानसे, उग्र तपस्यासे और बड़ी-बड़ी क्रियाओंसे भी नहीं देख सकता। इसे तो तुम-जैसा कृपापात्र ही मेरी कृपासे देख सकता है। मेरा ऐसा उग्ररूप देखकर तुम्हें भयभीत नहीं होना चाहिये तथा मोहित भी नहीं होना चाहिये। अब तुम निर्भय तथा प्रसन्न मनवाले होकर मेरे उसी चतुर्भुजरूपको भलीभाँति देखो।

संजय बोले—ऐसा कहकर भगवान् वासुदेवने पहले अर्जुनको अपना चतुर्भुजरूप दिखाया। फिर अर्जुनकी प्रसन्नताके लिये महात्मा भगवान् श्रीकृष्णने पुनः अपना द्विभुज मनुष्यरूप धारण कर लिया और भयभीत अर्जुनको आश्वासन दिया।

अर्जुन बोले—हे जनार्दन! आपके इस सौम्य मनुष्यरूपको देखकर मेरा चित्त स्थिर हो गया है और मैं अपनी स्वाभाविक स्थितिमें आ गया हूँ।

श्रीभगवान् बोले—तुमने मेरा यह जो चतुर्भुजरूप देखा है, इसके दर्शन अत्यन्त ही दुर्लभ हैं। देवता भी इस रूपको देखनेके लिये सदा लालायित रहते हैं। इस चतुर्भुजरूपको न तो वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता है। हे शत्रुतापन अर्जुन! मेरे इस चतुर्भुजरूपको तो केवल अनन्यभक्तिसे ही तत्त्वसे जाना जा सकता है, साकाररूपसे देखा जा सकता है तथा प्राप्त किया जा सकता है। हे पाण्डव! जो केवल मेरी प्रसन्नताके लिये सब कर्म करता है, मेरे ही आश्रित रहता है, मेरा ही प्रेमी भक्त है, सर्वथा आसक्तिरहित है तथा किसी भी प्राणीके साथ वैर नहीं रखता, वह भक्त मुझे ही प्राप्त हो जाता है।

हरिः ॐ तत्सत्! *हरिः ॐ तत्सत्!!* *हरिः ॐ तत्सत्!!!*

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

बारहवाँ अध्याय

(भक्तियोग)

भगवान्‌के मुखसे भक्तिकी महिमा सुनकर अर्जुन बोले—अभी आपने जैसा कहा है, जो भक्त निरन्तर आपमें लगे रहकर आप (सगुण-साकार)-की उपासना करते हैं और जो आपके अक्षर अव्यक्तरूप (निर्गुण-निराकार)-की उपासना करते हैं, उन दोनों प्रकारके उपासकोंमें कौन-से उपासक श्रेष्ठ हैं?

श्रीभगवान् बोले—मुझमें मनको लगाकर 'मैं भगवान्‌का ही हूँ तथा भगवान् ही मेरे हैं—इस प्रकार नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए जो भक्त परम श्रद्धाके साथ मेरी (सगुण-साकार)-की उपासना करते हैं, उन्हें मैं सर्वश्रेष्ठ योगी (उपासक) मानता हूँ। प्राणिमात्रके हितमें लगे हुए और सब जगह समबुद्धि रखनेवाले जो निर्गुणोपासक अपनी इन्द्रियोंको वशमें करके चिन्तनमें न आनेवाले, सब जगह परिपूर्ण, देखनेमें न आनेवाले, निर्विकार, अचल, ध्रुव, अक्षर तथा अव्यक्तकी उपासना करते हैं, वे भी मुझे ही प्राप्त होते हैं; क्योंकि निर्गुण-निराकार रूप भी मेरा ही है, मेरे समग्ररूपसे अलग नहीं है। परन्तु वैराग्यकी कमी तथा देहाभिमानके कारण जिनका चित्त निर्गुण-तत्त्वमें तल्लीन नहीं हुआ है, ऐसे साधकोंको निर्गुणोपासनामें कष्ट अधिक होता है; क्योंकि देहाभिमानके कारण निर्गुणोपासकोंको अपनी साधनामें अधिक कठिनाई होती है। परन्तु हे पार्थ! जो सम्पूर्ण कर्मोंको मेरे अर्पण करके और मेरे परायण होकर अनन्यभावसे मेरा ही ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उन मुझमें तल्लीन चित्तवाले भक्तोंका मैं स्वयं मृत्युरूप संसार-समुद्रसे शीघ्र ही उद्धार कर देता हूँ। इसलिये तुम अपने मन-बुद्धिको मुझमें ही लगा दो, फिर तुम मुझमें ही निवास करोगे, इसमें संशय नहीं है।

हे धनंजय! यदि मन-बुद्धिको मेरे अर्पण करनेमें तुम अपनेको असमर्थ मानते हो, तो तुम अभ्यासयोग* के द्वारा मुझे प्राप्त करनेकी इच्छा करो। यदि तुम अभ्यासयोगमें भी अपनेको असमर्थ मानते हो, तो केवल मेरी प्राप्तिका उद्देश्य रखकर ही सब कर्म करो। केवल मेरी प्राप्तिके उद्देश्यसे कर्म करनेपर भी तुम्हें मेरी प्राप्ति हो जायगी। यदि तुम मेरे लिये कर्म करनेमें भी अपनेको असमर्थ मानते हो, तो तुम सम्पूर्ण कर्मोंके फलकी इच्छाका त्याग कर दो। अभ्याससे शास्त्रज्ञान श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञानसे ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यानसे भी सब कर्मोंके फलकी इच्छाका त्याग श्रेष्ठ है; क्योंकि त्यागसे तत्काल ही परमशान्ति प्राप्त हो जाती है।

[इस प्रकार भगवान्‌ने यहाँ मनुष्यमात्रके कल्याणके लिये चार साधन बताये हैं—(१) समर्पणयोग, (२)अभ्यासयोग, (३) भगवदर्थकर्म और (४) कर्मफलत्याग। साधक अपनी रुचि, विश्वास तथा योग्यताके

---

* किसी लक्ष्यपर चित्तको बार-बार लगानेका नाम 'अभ्यास' है और समताका नाम 'योग' है। समता रखते हुए अभ्यास करना ही 'अभ्यासयोग' कहलाता है। केवल भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे किया गया भजन, नामजप आदि 'अभ्यासयोग' है।

अनुसार कोई भी एक साधन करके अपना कल्याण कर सकता है। अब भगवान् इन चारों साधनोंसे सिद्ध हुए भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन पाँच प्रकरणोंमें करते हैं—]

(*पहला प्रकरण—*) सम्पूर्ण प्राणियोंमें मुझे देखनेवाले मेरे भक्तका किसी भी प्राणीसे द्वेषभाव नहीं होता। इतना ही नहीं, उसका सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ मित्रता और दयालुताका भाव होता है। वह ममता और अहंकारसे रहित, सुख-दुःखकी प्राप्तिमें सम और क्षमाशील होता है। वह हरेक परिस्थितिमें निरन्तर सन्तुष्ट रहता है। उसे नित्य-निरन्तर मेरे सम्बन्धका अनुभव होता है। शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि स्वाभाविक ही उसके वशमें रहते हैं। उसका एक मुझमें ही दृढ़ निश्चय होता है। उसके मन-बुद्धि मेरे ही अर्पित रहते हैं। ऐसा भक्त मुझे प्रिय है।

(*दूसरा प्रकरण—*) मेरे भक्तसे किसी भी प्राणीको उद्वेग (क्षोभ, हलचल) नहीं होता तथा उसे स्वयं भी किसी प्राणीसे उद्वेग नहीं होता। वह हर्ष, ईर्ष्या, भय, उद्वेग आदि विकारोंसे सर्वथा रहित होता है; क्योंकि उसकी दृष्टिमें एक मेरे सिवाय दूसरी कोई सत्ता है ही नहीं, फिर वह किससे उद्वेग, ईर्ष्या, भय आदि करे और क्यों करे? ऐसा भक्त मुझे प्रिय है।

(*तीसरा प्रकरण—*) जो अपने लिये किसी भी वस्तु, व्यक्ति आदिकी आवश्यकता नहीं रखता, जो शरीर तथा अन्तःकरणसे पवित्र रहता है, जिसने करनेयोग्य काम (भगवत्प्राप्ति) कर लिया है, जो हरेक परिस्थितिमें उदासीन अर्थात् निर्लिप्त रहता है, जिसके हृदयमें दुःख-चिन्ता-शोकरूप हलचल नहीं होती और जो भोग तथा संग्रहके उद्देश्यसे कभी कोई नया कर्म आरम्भ नहीं करता, वह भक्त मुझे प्रिय है।

(*चौथा प्रकरण—*) जो राग, द्वेष, हर्ष तथा शोक—इन चारों विकारोंसे सर्वथा रहित है और जो न शुभ कर्मोंसे राग करता है तथा न अशुभ कर्मोंसे द्वेष ही करता है, ऐसा भक्त मुझे प्रिय है।

(*पाँचवाँ प्रकरण—*) जो शत्रु व मित्रमें, मान व अपमानमें, शरीरकी अनुकूलता व प्रतिकूलतामें और सुख व दुःखमें समान भाववाला है, जिसकी प्राणी-पदार्थोंमें किंचिन्मात्र भी आसक्ति नहीं है, जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला है, जो निरन्तर मेरे स्वरूपका मनन करता है, जो जिस-किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होने या न होनेमें सन्तुष्ट रहता है, जिसकी रहनेकी जगहमें तथा शरीरमें ममता-आसक्ति नहीं है, और जिसकी बुद्धि मुझमें स्थिर है, ऐसा भक्त मुझे प्रिय है।

[*यहाँ पाँच प्रकरणोंमें भक्तोंके अलग-अलग लक्षण बतानेका कारण यह है कि साधन-प्रणाली, परिस्थिति आदिका भेद रहनेसे भक्तोंके स्वभावमें भी थोड़ा-बहुत भेद रहता है। ऐसा होनेपर भी संसारके सम्बन्धका सर्वथा त्याग और भगवान्‌में प्रेम सब भक्तोंमें समान ही होता है।*]

परन्तु मुझमें श्रद्धा रखनेवाले और मेरे परायण हुए जो साधक भक्त अभी कहे हुए सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंका भलीभाँति सेवन करते हैं, ऐसे साधक भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। कारण कि मेरी प्राप्ति न होनेपर भी वे मुझपर श्रद्धा रखते हुए मेरे परायण होते हैं।

हरिः ॐ तत्सत्! *हरिः ॐ तत्सत्!!* *हरिः ॐ तत्सत्!!!*

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

तेरहवाँ अध्याय

(क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग)

बारहवें अध्यायके आरम्भमें आये अर्जुनके प्रश्नके उत्तरमें भगवान्‌ने अपनी (सगुण-साकारकी) उपासनाका विस्तारसे वर्णन किया। अब अपने निर्गुण-निराकार स्वरूपकी उपासनाका वर्णन आरम्भ करते हुए श्रीभगवान् बोले—हे कौन्तेय! 'यह'-रूपसे कहे जानेवाले शरीरको 'क्षेत्र' नामसे कहते हैं, और जो इस क्षेत्रको जानता है, उससे सम्बन्ध रखता है, उस जीवात्माको ज्ञानीलोग 'क्षेत्रज्ञ' नामसे कहते हैं। हे भारत! तुम सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ मुझे ही समझो। तात्पर्य है कि वास्तवमें तुम्हारी एकता शरीरके साथ नहीं है, अपितु मेरे साथ है—इसको तुम जान लो। 'क्षेत्र' (शरीर)-की संसारके साथ एकता है और 'क्षेत्रज्ञ' (जीवात्मा)-की मेरे साथ एकता है—ऐसा जो क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका ज्ञान है, वही मेरे मतमें यथार्थ ज्ञान है। वह 'क्षेत्र' जो है, जैसा है, जिन विकारोंवाला है तथा जिससे उत्पन्न हुआ है और वह 'क्षेत्रज्ञ' भी जो है तथा जिस प्रभाववाला है, वह सब तुम मुझसे संक्षेपमें सुनो। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके इस तत्त्वको ऋषियोंने, वेदोंकी ऋचाओंने और युक्तियुक्त एवं निश्चित किये हुए ब्रह्मसूत्रके पदोंने विस्तारसे अलग-अलग वर्णन किया है।

मूल प्रकृति, समष्टि बुद्धि (महत्तत्त्व), समष्टि अहंकार, पाँच महाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश), दस इन्द्रियाँ, एक मन तथा पाँचों इन्द्रियोंके पाँच विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध)—यही चौबीस तत्त्वोंवाला 'क्षेत्र' है। इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, शरीर, प्राणशक्ति औार धारणशक्ति—ये सातों 'क्षेत्र' के विकार हैं, जिन्हें मैंने संक्षेपसे कहा है।

[*शरीरके साथ अपनी एकता मान लेनेसे ही इच्छा, द्वेष आदि विकार पैदा होते हैं और उनका असर अपनेपर पड़ता है। अतः भगवान् शरीरसे मानी हुई एकता (देहाभिमान)-को मिटानेके लिये ज्ञानके बीस साधनोंका वर्णन करते हैं—*]

१) अपनेमें श्रेष्ठताका अभिमान न होना, २) अपनेमें दम्भ (दिखावटीपन) न होना, ३) अहिंसा अर्थात् शरीर, मन और वाणीसे कभी किसीको किंचिन्मात्र भी दुःख न देना, ४) दूसरेको क्षमा करनेका भाव, ५) शरीर, मन और वाणीकी सरलता, ६) ज्ञान-प्राप्तिके उद्देश्यसे गुरु (जीवन्मुक्त महापुरुष) के पास जाकर उनकी सेवा, आज्ञापालन करना, ७) शरीर तथा अन्तःकरणकी शुद्धि, ८) अपने उद्देश्यसे विचलित न होना, ९) मनको वशमें करना, १०) इन्द्रियोंके विषयोंमें राग न होना, ११) मैं शरीर हूँ—ऐसा अहंकार न होना, १२) वैराग्यके लिये जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और रोग—इन चारोंके दुःखोंपर बार-बार विचार करना, और दुःखोंके मूल कारण (सुखकी इच्छा)-को मिटाना, १३) सांसारिक आसक्तिका त्याग करना, १४) पुत्र, स्त्री, घर आदिसे घनिष्ठ सम्बन्धका त्याग करना, १५) अनुकूलता-प्रतिकूलताकी प्राप्तिमें चित्तका सम रहना, १६) संसारके आश्रयका त्याग करके केवल भगवान्‌का ही आश्रय लेना, भगवान्‌से ही सम्बन्ध जोड़ना १७) एकान्त स्थानमें रहनेका स्वभाव होना, १८) मनुष्य-समुदायमें प्रीति, रुचि न होना, १९) संसारकी स्वतन्त्र सत्ताके अभावका तथा परमात्माकी सत्ताका नित्य-निरन्तर मनन करना, और २०) सब जगह परमात्माको ही देखना।

—ये बीस साधन देहाभिमान मिटानेवाले होनेसे 'ज्ञान' नामसे कहे गये हैं। इन साधनोंसे विपरीत अभिमान, दम्भ, हिंसा आदि जितने दोष हैं, वे सब देहाभिमान बढ़ानेवाले होनेसे 'अज्ञान' नामसे

कहे गये हैं। इस ज्ञानसे प्राप्त करनेयोग्य जो परमात्मतत्त्व है, उसका मैं वर्णन करूँगा, जिसे जानकर मनुष्यको अमरताकी अनुभव हो जाता है।

वह परमात्मतत्त्व अनादि और परम ब्रह्म है। उस तत्त्वको सत् भी नहीं कह सकते और असत् भी नहीं कह सकते; क्योंकि वास्तवमें उसका वर्णन शब्दोंसे नहीं कर सकते। उस परमात्माके सब जगह हाथ और पैर हैं, सब जगह नेत्र, सिर और मुख हैं तथा सब जगह कान हैं। इसलिये वे किसी भी प्राणीसे दूर नहीं हैं। वे संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित हैं। वे परमात्मा सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे रहित हैं; फिर भी सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको ग्रहण करनेमें समर्थ हैं। उनकी किसी भी प्राणीमें आसक्ति नहीं है, फिर भी वे प्राणिमात्रका पालन-पोषण करते हैं। वे गुणोंसे रहित होनेपर भी सम्पूर्ण गुणोंके भोक्ता हैं। वे परमात्मा सम्पूर्ण प्राणियोंके बाहर भी हैं तथा भीतर भी हैं और चर-अचर प्राणियोंके रूपमें भी वही हैं अर्थात् संसारमें परमात्माके सिवाय कुछ भी नहीं है। देश, काल और वस्तु—तीनों ही दृष्टियोंसे वे परमात्मा दूर-से-दूर भी हैं और नजदीक-से-नजदीक भी हैं। अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण वे परमात्मा इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिके द्वारा जाननेमें नहीं आते। उन्हें तो स्वयंके द्वारा ही जाना जा सकता है। वे परमात्मा स्वयं विभागरहित (एक) होते हुए भी सम्पूर्ण प्राणियोंमें विभक्त (अनेक)-की तरह प्रतीत होते हैं। वे जाननेयोग्य एक ही परमात्मा ब्रह्मा-रूपसे सम्पूर्ण प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाले, विष्णु-रूपसे सबका भरण-पोषण करनेवाले और शिव-रूपसे सबका संहार करनेवाले हैं। वे परमात्मा सम्पूर्ण ज्योतियों (ज्ञान)-के भी ज्योति (प्रकाशक) हैं। उनमें अज्ञानका अत्यन्त अभाव है; क्योंकि वे ज्ञानस्वरूप हैं। वे परमात्मा ही जाननेयोग्य हैं, इसलिये उन्हें जाननेके बाद और कुछ जानना बाकी नहीं रहता। उन्हें तत्त्वज्ञानसे ही जाना जा सकता है, क्रिया, वस्तु आदिसे नहीं। ऐसे वे परमात्मा सबके हृदयमें नित्य-निरन्तर विराजमान रहते हैं। इस प्रकार साधकको क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय तीनोंको जानना चाहिये, जिनका वर्णन मैंने संक्षेपसे कर दिया है। मेरा भक्त इन तीनोंको तत्त्वसे जानकर मेरे साथ अभिन्नताका अनुभव कर लेता है।

प्रकृति (जड़) और पुरुष (चेतन)—इन दोनोंको ही तुम अनादि समझो। अनादि होनेपर भी दोनोंके स्वरूपमें बड़ा फर्क है। सभी विकार तथा गुण (सत्त्व-रज-तम) प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं, पर पुरुषमें विकार तथा गुण नहीं हैं। कार्य (पंचमहाभूत तथा शब्दादि पाँच विषय) और करण (दस इन्द्रियाँ तथा मन-बुद्धि-अहंकार)—इनके द्वारा जो भी क्रियाएँ होती हैं, वे सब प्रकृतिसे ही होती हैं। परन्तु अनुकूलतामें सुखी होना और प्रतिकूलतामें दुःखी होना—यह सुख-दुःखका भोग पुरुषमें ही होता है, प्रकृतिमें नहीं। वास्तवमें प्रकृतिके कार्य शरीरके साथ अपना सम्बन्ध जोड़नेसे ही पुरुष भोक्ता बनता है। गुणोंका संग करनेसे अर्थात् शरीरको 'मैं' और 'मेरा' माननेसे ही पुरुष ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेता है।

जैसे मनुष्य पुत्रके सम्बन्धसे 'पिता', पत्नीके सम्बन्धसे 'पति', बहनके सम्बन्धसे 'भाई' आदि बन जाता है, ऐसे ही यह पुरुष शरीरके साथ सम्बन्ध रखनेसे 'उपद्रष्टा', उसके साथ मिलकर सम्मति, अनुमति देनेसे 'अनुमन्ता', अपनेको शरीरका भरण-पोषण करनेवाला माननेसे 'भर्ता', उसके संगसे सुख-दुःख भोगनेसे 'भोक्ता' और अपनेको शरीरका मालिक माननेसे 'महेश्वर' बन जाता है। परन्तु स्वरूपसे यह पुरुष 'परमात्मा' कहा जाता है। यह इस शरीरमें रहता हुआ भी वास्तवमें शरीरके सम्बन्धसे सर्वथा रहित है। इस प्रकार जो मनुष्य गुणोंसे रहित पुरुषको और गुणोंके सहित प्रकृतिको अलग-अलग अनुभव कर लेता है, वह शास्त्रविहित सब कर्म करते हुए भी फिर जन्म नहीं लेता अर्थात् जन्म-मरणसे मुक्त हो जाता है। कई मनुष्य ध्यानयोगके द्वारा, कई ज्ञानयोगके द्वारा और कई

कर्मयोगके द्वारा अपने-आपसे अपने-आपमें परमात्मतत्त्वका अनुभव करते हैं। जो मनुष्य ध्यानयोग, ज्ञानयोग आदि साधनोंको नहीं जानते, पर जिनके भीतर तत्त्वप्राप्तिकी तीव्र अभिलाषा है, ऐसे मनुष्य भी जीवन्मुक्त महापुरुषोंकी आज्ञाका तत्परतापूर्वक पालन करनेसे तत्त्वज्ञानको प्राप्त कर लेते हैं।

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! स्थावर और जंगम जितने भी प्राणी हैं, वे सब-के-सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे पैदा होते हैं। क्षेत्रज्ञके द्वारा शरीरके साथ मैं-मेरेपनका सम्बन्ध मानना ही 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका संयोग' है। जो विषम प्राणियोंमें 'सम'-रूपसे स्थित और प्रतिक्षण नाशकी तरफ जानेवाले प्राणियोंमें 'अविनाशी'-रूपसे स्थित परमेश्वरको देखता है, वही वास्तवमें सही देखता है। कारण कि जो मनुष्य शरीरके साथ अपनी अभिन्नता मानता है, शरीरके जन्मसे अपना जन्म तथा शरीरकी मृत्युसे अपनी मृत्यु मानता है, वह अपने द्वारा अपनी हत्या करता है अर्थात् अपना पतन करता है, अपनेको जन्म-मरणके चक्करमें ले जाता है। परन्तु जो मनुष्य सब जगह समरूप परमात्माको देखता है अर्थात् परमात्माके साथ अपनी अभिन्नताका अनुभव करता है, वह अपने द्वारा अपनी हत्या नहीं करता। इसलिये वह परमगति (परमात्मा)-को प्राप्त हो जाता है।

प्रकृतिमें निरन्तर क्रिया होती है, जबकि स्वयंमें कभी कोई क्रिया नहीं होती। जब मनुष्य इस क्रियाशील प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है, तब शरीरके द्वारा होनेवाली क्रियाएँ अपनेमें प्रतीत होने लगती हैं। परन्तु जो मनुष्य सम्पूर्ण क्रियाओंको सब प्रकारसे प्रकृतिके द्वारा की जाती हुई देखता है और अपने-आपको (स्वयंको) अकर्ता देखता अर्थात् अनुभव करता है, वही वास्तवमें ठीक देखता है। जिस समय साधक सम्पूर्ण प्राणियोंके अलग-अलग शरीरोंको एक प्रकृतिमें ही स्थित तथा प्रकृतिसे ही उत्पन्न देखता है, उस समय उसका प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और वह ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।

हे कुन्तीनन्दन! यह पुरुष (आत्मा) स्वयं अनादि और सत्त्व-रज-तम तीनों गुणोंसे रहित होनेसे साक्षात् अविनाशी परमात्मस्वरूप ही है। यह शरीरमें रहता हुआ भी वास्तवमें न कुछ करता है और न लिप्त ही होता है। जैसे आकाश सब जगह व्याप्त होते हुए भी अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण किसी वस्तु, व्यक्ति आदिमें कभी लिप्त नहीं होता, ऐसे ही यह पुरुष सब जगह परिपूर्ण होते हुए भी किसी भी शरीरमें कभी लिप्त नहीं होता। हे भारत! जैसे एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण संसारको प्रकाशित करता है, ऐसे ही यह पुरुष सम्पूर्ण शरीरोंको प्रकाशित करता है। तात्पर्य है कि जैसे संसारकी सब क्रियाएँ सूर्यके प्रकाशमें होती हैं, पर सूर्य उन क्रियाओंको करने-करवानेमें कारण नहीं बनता, ऐसे ही क्षेत्रोंकी सब क्रियाएँ क्षेत्रज्ञ (पुरुष)-की सत्ता-स्फूर्तिसे ही होती हैं, पर क्षेत्रज्ञ उन क्रियाओंको करने-करवानेमें कारण नहीं बनता। इस प्रकार जो मनुष्य विवेक-दृष्टिसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विभागको ठीक-ठीक जान लेते हैं और प्रकृति तथा उसके कार्य (शरीर-संसार)-से अपनेको सर्वथा अलग अनुभव कर लेते हैं, वे परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं। फिर उनकी दृष्टिमें एक परमात्माके सिवाय कुछ नहीं रहता।

हरिः ॐ तत्सत्! *हरिः ॐ तत्सत्!!* *हरिः ॐ तत्सत्!!!*

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

चौदहवाँ अध्याय

(गुणत्रयविभागयोग)

जीवको दो चीजोंसे बन्धन होता है—प्रकृतिसे और प्रकृतिके कार्य सत्त्व-रज-तम तीनों गुणोंसे। प्रकृतिके बन्धनसे छूटनेके लिये भगवान्ने तेरहवें अध्यायका विषय बता दिया। अब भगवान् गुणोंके बन्धनसे छूटनेके लिये चौदहवें अध्यायका विषय आरम्भ करते हैं। श्रीभगवान् बोले—लौकिक-पारलौकिक सम्पूर्ण ज्ञानोंमें जो सबसे उत्तम और श्रेष्ठ ज्ञान है, उसे मैं तुमसे पुनः कहूँगा। उस ज्ञानको प्राप्त करनेवाले सब-के-सब मुनिलोग इस संसारसे मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त हो गये हैं। उस ज्ञानका अनुभव करके जो ज्ञानी महापुरुष मेरे समान सच्चिदानन्द-स्वरूप हो जाते हैं, वे महासर्गमें भी उत्पन्न नहीं होते और महाप्रलयमें भी दुःखी नहीं होते अर्थात् वे जन्म-मरणसे सदाके लिये छूट जाते हैं।

हे भारत! मेरी मूल प्रकृति तो उत्पत्ति-स्थान है और मैं उसमें अपने अंश जीव (चेतन)-रूप गर्भकी स्थापना करता हूँ, जिससे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार हे कुन्तीनन्दन! सम्पूर्ण योनियोंमें प्राणियोंके जितने भी शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सबकी मूल प्रकृति तो माता है और मैं उसमें जीवरूप बीजकी स्थापना करनेवाला पिता हूँ।

हे महाबाहो! सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं। परन्तु प्रकृतिके कार्य शरीरसे अपना सम्बन्ध (मैं-मेरापन) मान लेनेके कारण ये गुण अविनाशी जीवात्माको नाशवान् जड़ शरीरमें बाँध देते हैं। हे निष्पाप अर्जुन! उन तीनों गुणोंमें 'सत्त्वगुण' निर्मल (स्वच्छ) होनेके कारण रजोगुण-तमोगुणकी अपेक्षा प्रकाशक और निर्विकार है। वह सात्त्विक सुख और सात्त्विक ज्ञानकी आसक्तिसे जीवात्माको बाँध देता है अर्थात् उसे गुणातीत नहीं होने देता। हे कौन्तेय! तृष्णा और आसक्तिको उत्पन्न करनेवाले 'रजोगुण' को तुम राग-स्वरूप समझो। वह कर्मोंकी आसक्तिसे जीवात्माको बाँधता है। और हे भारत! तमोगुण अज्ञानसे उत्पन्न होता है तथा सम्पूर्ण मनुष्योंको मोहित करता है अर्थात् उनमें विवेक नहीं होने देता। वह प्रमाद*, आलस्य तथा निद्राके द्वारा जीवात्माको शरीरमें बाँध देता है अर्थात् उसकी लौकिक-पारलौकिक उन्नति नहीं होने देता।

हे भारत! सत्त्वगुण सुखमें आसक्ति पैदा करके और रजोगुण कर्ममें आसक्ति पैदा करके मनुष्यपर अपना अधिकार जमाता है, उसे अपने वशमें करता है। परन्तु तमोगुण विवेकको ढककर तथा प्रमादमें लगाकर मनुष्यपर अपना अधिकार जमाता है। हे भारत! रजोगुण और तमोगुणकी वृत्तियोंको दबाकर 'सत्त्वगुण' बढ़ता है। सत्त्वगुण और तमोगुणकी वृत्तियोंको दबाकर 'रजोगुण' बढ़ता है। इसी तरह सत्त्वगुण और रजोगुणकी वृत्तियोंको दबाकर 'तमोगुण' बढ़ता है। तात्पर्य है कि दो गुणोंको दबाकर एक गुण बढ़ता है, बढ़ा हुआ गुण मनुष्यपर अधिकार जमाता है और अधिकार जमाकर मनुष्यको बाँध देता है।

जिस समय 'सत्त्वगुण' बढ़ता है, उस समय मनुष्यकी सम्पूर्ण इन्द्रियों तथा अन्तःकरणमें निद्रा-आलस्य-प्रमाद मिटकर स्वच्छता आ जाती है और विवेक प्रकट हो जाता है। जिस समय 'रजोगुण'

---

* करनेलायक कामको न करना और न करनेलायक कामको करना अर्थात् बीड़ी-सिगरेट, ताश-चौपड़, खेल-तमाशे आदि कामोंमें लगना।

बढ़ता है, उस समय लोभ, रागपूर्वक कर्म करनेकी प्रवृत्ति, भोग तथा संग्रहके उद्देश्यसे नये-नये कर्मोंको आरम्भ करना, अन्त:करणमें अशान्ति, इच्छा आदि वृत्तियाँ पैदा होती हैं। जिस समय 'तमोगुण' बढ़ता है, उस समय इन्द्रियों तथा अन्त:करणमें स्वच्छता नहीं रहती, किसी कार्यको करनेका मन नहीं करता, प्रमाद होने लगता है और अन्त:करणमें मोह छा जाता है।

'सत्त्वगुण' के बढ़नेपर मरनेवाला मनुष्य पुण्यात्माओं द्वारा प्राप्त करनेयोग्य उत्तम लोकोंमें जाता है। 'रजोगुण' के बढ़नेपर मरनेवाला मनुष्य पुन: मनुष्ययोनिमें ही जन्म लेता है। 'तमोगुण' के बढ़नेपर मरनेवाला मनुष्य पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष, लता आदि नीच योनियोंमें जन्म लेता है। कारण कि सात्त्विक कर्मका फल निर्मल, राजस कर्मका फल दु:ख और तामस कर्मका फल मूढ़ता (विवेकहीनता) होता है। सत्त्वगुणसे ज्ञान (विवेक), रजोगुणसे लोभ और तमोगुणसे प्रमाद, मोह तथा अज्ञान उत्पन्न होते हैं। जिन मनुष्योंके जीवनमें 'सत्त्वगुण' की प्रधानता होती है, वे शरीर छूटनेपर स्वर्गादि ऊँचे लोकोंमें जाते है। जिन मनुष्योंके जीवनमें 'रजोगुण' की प्रधानता होती है, वे शरीर छूटनेपर पुन: मनुष्यलोकमें ही जन्म लेते हैं। जिन मनुष्योंके जीवनमें 'तमोगुण' की प्रधानता होती है, वे शरीर छूटनेपर अधोगतिमें (नरकोंमें तथा पशु-पक्षी आदि नीच योनियोंमें) जाते हैं।

गुणोंके सिवाय अन्य कोई कर्ता है ही नहीं अर्थात् सभी क्रियाएँ प्रकृतिके गुणोंसे ही हो रही हैं—ऐसा जानकर जो विवेकी साधक अपने-आपको तीनों गुणोंसे अलग अनुभव कर लेता है, वह मुझे प्राप्त हो जाता है। ऐसा विवेकी साधक तीनों गुणोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करके जन्म, मृत्यु तथा वृद्धावस्थाके दु:खोंसे छूट जाता है और अमरताका अनुभव कर लेता है।

गुणातीत मनुष्यके द्वारा अमरता प्राप्त करनेकी बात सुनकर अर्जुनके मनमें गुणातीत मनुष्यके लक्षण जाननेकी जिज्ञासा हुई और उन्होंने भगवान्‌से पूछा—हे प्रभो! मैं यह जानना चाहता हूँ कि इन तीनों गुणोंसे असंग हुए मनुष्यके क्या लक्षण होते हैं? उसके आचरण कैसे होते हैं? और साधक किस उपायसे इन तीनों गुणोंसे असंग (गुणातीत) हो सकता है?

श्रीभगवान् बोले—(*गुणातीत मनुष्यके लक्षण—*) हे पाण्डव! सत्त्वगुणकी वृत्ति 'प्रकाश', रजोगुणकी वृत्ति 'प्रवृत्ति' और तमोगुणकी वृत्ति 'मोह'—इन तीनोंके अच्छी तरह आनेपर भी गुणातीत मनुष्य 'ये वृत्तियाँ न रहें'—ऐसा द्वेष नहीं करता और 'ये पुन: आ जायँ'—ऐसी इच्छा नहीं करता। वह इन वृत्तियोंसे स्वाभाविक ही निर्लिप्त रहता है। वह उदासीनकी तरह रहता है। अन्त:करणमें गुणोंकी वृत्तियाँ आनेपर भी वह उनसे विचलित नहीं होता। वह 'गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं अर्थात् गुणोंमें ही सम्पूर्ण क्रियाएँ हो रही हैं'—ऐसा अनुभव करते हुए अपने स्वरूपमें निर्विकाररूपसे स्थित रहता है और स्वयं कुछ भी चेष्टा नहीं करता।

(*गुणातीत मनुष्यके आचरण—*) उसके आचरण समतापूर्वक होते हैं। अत: जो धैर्यवान् मनुष्य सुख-दु:खमें सम रहता है अर्थात् सुखी-दु:खी नहीं होता, जो नित्य-निरन्तर रहनेवाले स्वरूपमें स्थित रहता है, जिसका मिट्टीके ढेले, पत्थर तथा सोनेमें न तो राग होता है और न द्वेष ही होता है, जो कर्मोंकी सिद्धि-असिद्धिमें सम रहता है, जो नामकी निन्दा-स्तुति और शरीरके मान-अपमानमें सुखी-दु:खी नहीं होता, जो मित्र और शत्रुके पक्षमें सम रहता है, और जो कामना-आसक्तिको लेकर कोई नया कर्म आरम्भ नहीं करता, वह गुणातीत कहलाता है।

(*गुणातीत होनेका उपाय—*) जो मनुष्य अनन्यभावसे केवल मेरे ही शरण हो जाता है, वह तीनों गुणोंसे अतीत होकर ब्रह्मप्राप्तिका अधिकारी हो जाता है। कारण कि ब्रह्म, अविनाशी अमृत, सनातनधर्म और ऐकान्तिक सुखका आधार मैं ही हूँ अर्थात् इन रूपोंमें साक्षात् मैं ही हूँ।

हरिः ॐ तत्सत्! *हरिः ॐ तत्सत्!!* *हरिः ॐ तत्सत्!!!*

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

पन्द्रहवाँ अध्याय

(पुरुषोत्तमयोग)

श्रीभगवान् बोले—यह संसाररूप पीपलका वृक्ष ऐसा विचित्र वृक्ष है कि इसका मूल (जड़) ऊपर है तथा शाखाएँ नीचेकी ओर हैं! परमात्मा ही इस संसारवृक्षके मूल (आधार, कारण) हैं और ब्रह्माजी इसकी प्रधान शाखा हैं, जिनसे सृष्टि-रचनारूप अनेक शाखाएँ निकलती हैं। कल दिनतक भी स्थिर न रहनेके कारण इसे 'अश्वत्थ' कहते हैं। इसके आदि-अन्तका पता न होनेसे तथा प्रवाहरूपसे नित्य रहनेके कारण इसे 'अव्यय' कहते हैं। वेदोंमें आये हुए सकाम अनुष्ठानोंका वर्णन इस संसारवृक्षके पत्ते कहे गये हैं। ऐसे संसारवृक्षको जो यथार्थरूपसे जानता है, वही वास्तवमें वेदोंके तत्त्वको जाननेवाला है।

इस संसारवृक्षकी सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके द्वारा बढ़ी हुई शाखाएँ (प्राणी) नीचे, मध्य तथा ऊपरके सभी लोकोंमें फैली हुई हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध—ये पाँचों विषय उन शाखाओंकी कोंपलें हैं। इन विषयोंका चिन्तन करना ही नयी-नयी कोंपलोंका निकलना है। मनुष्यलोकमें कर्मानुसार बाँधनेवाले तादात्म्य (मैं शरीर हूँ—ऐसा मानना), ममता और कामनारूप मूल नीचे और ऊपर सभी लोकोंमें व्याप्त हो रहे हैं। कारण कि मनुष्यशरीरमें किये हुए कर्मोंका फल ही सभी लोकोंमें भोगा जाता है।

इस संसारवृक्षका जैसा सत्य, सुन्दर तथा सुखदायी रूप देखनेमें आता है, वैसा रूप विचार करनेपर मिलता नहीं। कारण कि इसका देश-कालकी दृष्टिसे न तो आदि है, न अन्त है और न स्थिति (स्वतन्त्र सत्ता) ही है। साधकको चाहिये कि वह पहले तादात्म्य, ममता और कामनारूप दृढ़ मूलोंवाले इस संसारवृक्षको असंगता (वैराग्य)-रूप शस्त्रके द्वारा काट दे अर्थात् उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर ले। उसके बाद वह संसारवृक्षके मूल उस परमपद परमात्माकी खोज करे, जो इस सम्पूर्ण सृष्टिके रचयिता हैं और जिसे प्राप्त होनेपर मनुष्य फिर लौटकर संसारमें नहीं आते। इसके लिये साधक उस आदिपुरुष परमात्माके ही शरण हो जाय।

जो साधक परमात्माके शरण हो जाते हैं, वे शरीरके मान-आदर और मोहसे रहित हो जाते हैं, आसक्ति न रहनेके कारण वे आसक्तिसे पैदा होनेवाले ममता आदि दोषोंको जीत लेते हैं, वे नित्य-निरन्तर परमात्मामें ही स्थित रहते हैं, वे सम्पूर्ण कामनाओंसे रहित हो जाते हैं, वे सुख-दुःखरूप द्वन्द्वोंसे मुक्त हो जाते हैं। ऐसे ऊँची स्थितिवाले मोहरहित साधक भक्त अविनाशी परमपद परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं। उस परमपदको न सूर्य, न चन्द्र और न अग्नि ही प्रकाशित कर सकती है। कारण कि वे सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि भी उस परमपदसे ही प्रकाश पाकर भौतिक जगत्को प्रकाशित करते हैं। जहाँ जानेके बाद जीव लौटकर संसारमें नहीं आता, वह अविनाशी पद ही मेरा परमधाम है।

[हम भगवान्‌के अंश हैं। इसलिये भगवान्‌का जो धाम है, वही हमारा धाम है। इसी कारण उस धामकी प्राप्ति होनेपर फिर लौटकर संसारमें नहीं आना पड़ता। जबतक हम अपने उस धाममें नहीं जायँगे, तबतक हम मुसाफिरकी तरह अनेक योनियोंमें तथा लोकोंमें भटकते ही रहेंगे, कहीं भी ठहर नहीं सकेंगे। कारण कि यह सम्पूर्ण संसार परदेश है, स्वदेश नहीं। यह पराया घर है, अपना घर नहीं। विभिन्न योनियोंमें तथा लोकोंमें हमारा भटकना तभी बन्द होगा, जब हम अपने असली घरमें पहुँच जायँगे।]

इस संसारमें जीव बना हुआ यह आत्मा (जीवात्मा) सदासे मेरा ही अंश है। अत: तत्त्वसे यह सदा मुझमें ही स्थित रहता है, मुझसे कभी अलग नहीं हो सकता। परन्तु इससे भूल यह होती है कि यह मुझसे विमुख होकर प्रकृतिमें स्थित मन तथा पाँचों इन्द्रियोंको अपना मान लेता है, उनसे अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है। जैसे वायु इत्रके फोहेसे गन्धको ग्रहण करके ले जाती है, ऐसे ही शरीरका मालिक बना हुआ जीवात्मा भी जिस शरीरको छोड़ता है, वहाँसे मनसहित इन्द्रियोंको (सूक्ष्म और कारणशरीरको) ग्रहण करके फिर दूसरे शरीरमें चला जाता है। वहाँ वह मनका आश्रय लेकर श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण—इन पाँचों इन्द्रियोंके द्वारा क्रमश: शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पाँचों विषयोंका रागपूर्वक उपभोग करता है। इस प्रकार शरीरको छोड़कर जाते हुए या दूसरे शरीरमें स्थित हुए अथवा विषयोंको भोगते हुए भी गुणोंसे युक्त जीवात्मा वास्तवमें स्वरूपसे निर्लिप्त ही रहता है—इस रहस्यको अज्ञानी मनुष्य नहीं जानते, अपितु ज्ञानरूपी नेत्रोंवाले विवेकी पुरुष ही जानते हैं। लगनपूर्वक साधन करनेवाले ज्ञानयोगी इस परमात्मतत्त्वका अपने-आपमें ही अनुभव कर लेते हैं। परन्तु जिन्होंने अपना अन्त:करण शुद्ध नहीं किया है अर्थात् जिनके अन्त:करणमें सांसारिक भोग व संग्रहका महत्त्व बना हुआ है, ऐसे अविवेकी मनुष्य साधन करनेपर भी इस तत्त्वका अनुभव नहीं करते।

सूर्यमें आया हुआ जो तेज सम्पूर्ण जगत्‌को प्रकाशित करता है, जो तेज चन्द्रमामें है और जो तेज अग्निमें है, उस तेजको तुम मेरा ही जानो। तात्पर्य है कि सूर्य, चन्द्र और अग्निमें मैं ही तेजरूपसे स्थित होकर सम्पूर्ण संसारको प्रकाशित करता हूँ। मैं ही पृथ्वीमें प्रवेश करके अपनी शक्तिसे सम्पूर्ण प्राणियोंको धारण करता हूँ और मैं ही रसमय सोम* (चन्द्र) होकर सम्पूर्ण वनस्पतियोंको पुष्ट करता हूँ। प्राणियोंके शरीरमें रहनेवाला मैं ही प्राण-अपानसे युक्त वैश्वानर (जठराग्नि) होकर उनके खाये हुए चार प्रकारके (चबाये गये, निगले गये, चूसे गये और चाटे गये) अन्नको पचाता हूँ। मैं सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें विशेषरूपसे निवास करता हूँ। मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन (संशय, भ्रम आदि दोषोंका नाश) होता है। सम्पूर्ण वेदोंके द्वारा मैं ही जाननेयोग्य हूँ। वेदोंके यथार्थ तत्त्वका निर्णय करनेवाला और वेदोंको यथार्थरूपसे जाननेवाला भी मैं ही हूँ।

इस संसारमें क्षर (नाशवान्, जड़) और अक्षर (अविनाशी, चेतन)—ये दो प्रकारके ही पुरुष हैं। सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीर 'क्षर' और जीवात्मा 'अक्षर' कहा जाता है। इन दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो 'परमात्मा' नामसे कहा गया है। वे अविनाशी परमात्मा ही तीनों लोकोंमें प्रवेश करके सम्पूर्ण प्राणियोंका भरण-पोषण करते हैं। वह उत्तम पुरुष परमात्मा मैं (साकाररूपसे प्रकट श्रीकृष्ण) ही हूँ! कारण कि मैं क्षरसे अतीत हूँ और अक्षरसे भी उत्तम हूँ, इसलिये पुराण, स्मृति

---

* यहाँ 'सोम' शब्द चन्द्रलोकका वाचक है, जो सूर्यसे भी ऊपर है। नेत्रोंसे हमें जो दीखता है, वह चन्द्रमण्डल है, चन्द्रलोक नहीं।

आदि शास्त्रोंमें तथा वेदोंमें मैं 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध हूँ। हे भारत! इस प्रकार जो मोहरहित भक्त मुझे 'पुरुषोत्तम' जानकर मेरे सम्मुख हो जाता है, उसके लिये जाननेयोग्य कोई तत्त्व बाकी नहीं रहता। फिर वह सब प्रकारसे (प्रत्येक वृत्ति और क्रियासे) मेरा ही भजन करता है; क्योंकि उसकी दृष्टिमें एक मेरे सिवाय दूसरा कोई होता ही नहीं।

हे निष्पाप (दोषदृष्टिसे रहित) अर्जुन! इस प्रकार मैंने तुमसे जो अत्यन्त गोपनीय शास्त्र कहा है, इसे जो जान लेता है, उसके लिये कुछ भी जानना, करना और पाना बाकी नहीं रहता। उसका मनुष्यजीवन सफल हो जाता है।

हरिः ॐ तत्सत्! *हरिः ॐ तत्सत्!!* *हरिः ॐ तत्सत्!!!*

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

सोलहवाँ अध्याय

(दैवासुरसम्पद्विभागयोग)

जो मनुष्य भगवान्‌के सम्मुख हैं, जिनका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति है, वे 'दैवी सम्पत्तिवाले'* होते हैं और जो मनुष्य संसारके सम्मुख हैं, जिनका उद्देश्य भोग भोगना तथा संग्रह करना है, वे 'आसुरी सम्पत्तिवाले' होते हैं**। दोनोंके लक्षणोंका वर्णन करते हुए श्रीभगवान् बोले—

१) भयका बिल्कुल न होना, २) अन्त:करणकी शुद्धि, ३) ज्ञान-प्राप्तिके लिये योग (समता)-में दृढ़ स्थिति, ४) सात्त्विक दान, ५) इन्द्रियोंका वशमें होना, ६) यज्ञ, ७) स्वाध्याय, ८) कर्तव्य-पालनके लिये कष्ट सहना, ९) शरीर-मन-वाणीकी सरलता, १०) अहिंसा (तन-मन-वाणीसे किसीको दु:ख न देना), ११) सत्य बोलना, १२) क्रोध न करना, १३) संसारकी कामनाका त्याग, १४) अन्त:करणमें राग-द्वेषसे होनेवाली हलचल न होना, १५) चुगली न करना, १६) सब प्राणियोंपर दया करना, १७) सांसारिक भोगोंमें मन न ललचाना, १८) हृदयका कोमल होना, १९) शास्त्र और लोक-मर्यादाके विरुद्ध काम करनेमें लज्जा, २०) चपलता (उतावलापन) न होना, २१) तेज (प्रभाव), २२) क्षमा अर्थात् अपनेमें दण्ड देनेकी सामर्थ्य होनेपर भी अपराधीको माफ कर देना, २३) हरेक परिस्थितिमें धैर्य रखना, २४) शरीरको शुद्ध रखना, २५) बदला लेनेकी भावना न होना, और २६) दूसरेसे मान-आदर न चाहना।

—हे भरतवंशी अर्जुन! ये सभी दैवी सम्पत्तिवाले मनुष्योंके लक्षण हैं।

---

* 'देव' नाम भगवान्‌का है; अत: भगवान्‌की प्राप्तिके लिये जितने भी सद्‌गुण-सदाचार आदि साधन हैं, वे सब 'दैवी सम्पत्ति' कहलाते हैं।

** 'असु' नाम प्राणोंका है; अत: जिनका अपने प्राणोंमें मोह है, जो अपने प्राणका पोषण करनेमें अर्थात् भोगोंमें ही लगे रहते हैं, वे 'असुर' कहलाते हैं, और उनके गुण 'आसुरी सम्पत्ति' कहलाते हैं। भगवान्‌का ही अंश होनेसे जीवमें 'दैवी सम्पत्ति' स्वत:-स्वाभाविक है; पर 'आसुरी सम्पत्ति' शरीरादि नाशवान् पदार्थोंके संगसे आती है।

१) दम्भ (दिखावटीपन) करना, २) घमण्ड करना अर्थात् धन-जमीन, मकान-परिवार आदि बाहरी चीजोंको लेकर अपनेको बड़ा मानना, ३) अभिमान करना अर्थात् वर्ण-आश्रम, जाति, विद्या आदि भीतरी चीजोंको लेकर अपनेको बड़ा मानना, ४) क्रोध करना, ५) मन, वाणी, बर्ताव आदिमें कठोरता रखना और ६) अविवेक होना अर्थात् सत्-असत्, कर्तव्य-अकर्तव्य आदिका ज्ञान न होना।

—हे पार्थ! ये सभी आसुरी सम्पत्तिवाले मनुष्योंके लक्षण हैं।

[*मूल दोष एक ही है, जिससे सम्पूर्ण आसुरी सम्पत्ति पैदा होती है और मूल गुण भी एक ही है, जिससे सम्पूर्ण दैवी सम्पत्ति प्रकट होती है। मूल दोष है—शरीर तथा संसारकी सत्ता और महत्ता स्वीकार करके उससे सम्बन्ध जोड़ना। मूल गुण है—भगवान्‌की सत्ता और महत्ता स्वीकार करके उनसे सम्बन्ध जोड़ना। यह मूल दोष और मूल गुण ही स्थानभेदसे अनेक रूपोंमें दीखता है।*]

दैवी सम्पत्ति मुक्त करनेवाली और आसुरी सम्पत्ति बाँधनेवाली (जन्म-मरण देनेवाली) होती है। परन्तु हे पाण्डुपुत्र अर्जुन! इस विषयमें तुम्हें चिन्ता नहीं करनी चाहिये; क्योंकि तुम दैवी सम्पत्तिवाले हो। हे पार्थ! इस मनुष्यलोकमें दो तरहके प्राणी रहते हैं—दैवी सम्पत्तिवाले और आसुरी सम्पत्तिवाले। दैवी सम्पत्तिका तो मैंने विस्तारसे वर्णन कर दिया है, अब तुम आसुरी सम्पत्तिका विस्तारसे वर्णन सुनो।

आसुरी स्वभाववाले मनुष्य 'क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये'—इन दोनोंको नहीं जानते। उनमें न तो बाहरकी शुद्धि होती है, न अच्छा आचरण होता है और न सत्यका पालन ही होता है। वे कहा करते हैं कि संसारमें यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत आदि सब धर्म-कर्म झूठे हैं। इस संसारमें धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य आदिकी कोई मर्यादा नहीं है। इस संसारको रचनेवाला कोई ईश्वर नहीं है, अपितु यह अपने-आप केवल स्त्री-पुरुषके संयोगसे पैदा हुआ है। इसलिये इस संसारकी उत्पत्तिका हेतु काम ही है, इसके सिवाय और कोई कारण नहीं है। इस प्रकारकी नास्तिक दृष्टिका आश्रय लेनेवाले वे आसुरी मनुष्य आत्माकी सत्ताको नहीं मानते। पारमार्थिक विषयमें उनकी बुद्धि काम नहीं करती। ईश्वर और परलोकका भय न होनेसे उनके द्वारा हत्या आदि बड़े-बड़े भयानक कर्म होते हैं। वे दूसरोंका नुकसान करनेमें ही लगे रहते हैं। उनकी सामर्थ्य दूसरोंका नाश करनेके लिये ही होती है। वे कभी पूरी न होनेवाली कामनाओंका आश्रय लेकर सदा दम्भ, अभिमान और नशेमें चूर रहते हैं। वे ऐसे व्रत-नियम धारण करते हैं, जिनसे दूसरोंका नुकसान हो। तामसी बुद्धिके कारण वे अनेक दुराग्रहोंको पकड़े रहते हैं। उनके भीतर ऐसी चिन्ताएँ रहती हैं, जो मरनेतक नहीं छूटतीं। वे रात-दिन पदार्थोंका संग्रह और उनका भोग करनेमें ही लगे रहते हैं। उनका यह निश्चय होता है कि इस संसारमें सुख भोगने और संग्रह करनेके सिवाय और कुछ नहीं है; जो कुछ है, यही है। वे सैकड़ों आशाओंकी फाँसियोंसे बँधे रहते हैं। उनकी आशाएँ कभी पूरी होती ही नहीं। उनका जीवन अपनी कामनापूर्ति करनेके लिये और क्रोधपूर्वक दूसरोंको कष्ट देनेके लिये ही होता है। केवल भोग भोगना और धन इकट्ठा करना ही उनका उद्देश्य होता है, और इसके लिये वे बेईमानी, विश्वासघात, चोरी आदि अनेक तरहके अन्याय, पाप किया करते हैं।

आसुरी स्वभाववाले मनुष्य लोभ, क्रोध और अभिमानको लेकर मन-ही-मन सोचा करते हैं कि इतनी वस्तुएँ तो हमने अपनी चतुराई-चालाकीसे प्राप्त कर ली हैं, अब इतनी (दहेज आदिमें) और प्राप्त कर लेंगे। इतना धन तो हमारे पास पहलेसे है ही, इतना धन और हो जायगा। वह शत्रु तो

हमारे द्वारा मारा गया है, दूसरे शत्रुओंको भी हम मार डालेंगे। हम सर्वसमर्थ हैं, हमारी बराबरी कोई नहीं कर सकता। हम भोग भोगनेवाले हैं। हम सिद्ध हैं, इसलिये हम जो चाहें, वह कर सकते हैं। हम बड़े बलवान् और सुखी हैं। हमारे पास बहुत धन है। बहुत-से मनुष्य हमारा साथ देनेवाले हैं। हमारे समान दूसरा कौन हो सकता है? हम खूब यज्ञ करेंगे, दान देंगे और मौज करेंगे।

—इस प्रकार आसुरी मनुष्य अज्ञानसे मोहित होकर तरह-तरहके मनोरथ किया करते हैं। कामनाओंके कारण जिनका चित्त भटकता रहता है, जो मोहरूपी जालमें उलझे रहते हैं, और जो भोग तथा संग्रहमें अत्यन्त आसक्त रहते हैं, ऐसे आसुर मनुष्य मरनेके बाद भयंकर, घोर यातनावाले नरकोंमें गिरते हैं।

आसुरी मनुष्य अपने-आपको बड़ा श्रेष्ठ समझते हैं कि हमारे समान कोई नहीं है; अतः हमारा आदर होना ही चाहिये। उनमें बहुत ज्यादा ऐंठ-अकड़ रहती है। वे सदा धन और मानके नशेमें चूर रहते हैं। वे यज्ञ, दान, तप आदि कोई शुभ कर्म भी करते हैं तो विधिपूर्वक नहीं करते, अपितु लोगोंको दिखानेके लिये तथा अपनी प्रसिद्धिके लिये ही करते हैं। वे जो भी काम करते हैं, उसे अहंकार, हठ, घमण्ड, कामना और क्रोधपूर्वक ही करते हैं। ऐसे आसुरी स्वभाववाले मनुष्य अपने और दूसरोंके शरीरमें रहनेवाले मुझ अन्तर्यामीके साथ वैर रखते हैं, और मेरे तथा दूसरोंके गुणोंमें भी दोष देखते हैं। उन्हें संसारमें कोई अच्छा आदमी दीखता ही नहीं! उन द्वेष करनेवाले, क्रूर स्वभाववाले और मनुष्योंमें महान् नीच तथा अपवित्र मनुष्योंको मैं बार-बार कुत्ते, गधे, साँप, बिच्छू आदि आसुरी योनियोंमें गिराता हूँ, जिससे वे अपने पापोंका फल भोगकर शुद्ध हो जायँ। हे कुन्तीनन्दन! यह कितने दुःखकी बात है कि मनुष्यजन्ममें मुझे प्राप्त करनेका दुर्लभ अवसर पाकर भी वे मूढ़ मनुष्य मुझे प्राप्त न करके उल्टे पशु, पक्षी आदि आसुरी योनियोंमें चले जाते हैं और बार-बार उन योनियोंमें ही जन्म लेते रहते हैं! आसुरी योनियोंमें जानेपर भी उनके पाप पूरी तरह नष्ट नहीं होते। उन बचे हुए पापोंका फल भोगनेके लिये वे उन आसुरी योनियोंसे भी अधम गतिमें अर्थात् भयंकर नरकोंमें चले जाते हैं!

काम, क्रोध और लोभ—ये तीन नरकके दरवाजे हैं, जो मनुष्यका पतन करनेवाले हैं। इसलिये इन तीनोंका त्याग कर देना चाहिये। हे कुन्तीनन्दन! जो मनुष्य इन काम-क्रोध-लोभका त्याग करके अपने कल्याणके लिये साधन करता है, वह परम गतिको प्राप्त हो जाता है। परन्तु जो काम-क्रोध-लोभके कारण शास्त्रविधिका त्याग करके मनमाना आचरण करता है, उसका न तो अन्तःकरण शुद्ध होता है, न उसे सुख-शान्ति मिलती है और न वह परम गतिको ही प्राप्त होता है। इसलिये 'क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये'—इस विषयमें शास्त्र ही प्रमाण है, ऐसा जानकर तुम्हें शास्त्रके अनुसार ही हरेक काम करना चाहिये।

हरिः ॐ तत्सत्! *हरिः ॐ तत्सत्!!* *हरिः ॐ तत्सत्!!!*

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नम: ॥

सत्रहवाँ अध्याय

(श्रद्धात्रयविभागयोग)

अर्जुन बोले—हे कृष्ण! जो मनुष्य शास्त्रविधिको तो नहीं जानते, पर श्रद्धापूर्वक देवताओं आदिका पूजन करते हैं, उनकी श्रद्धा सात्त्विकी (दैवी सम्पत्तिवाली) होती है या राजसी-तामसी (आसुरी सम्पत्तिवाली)?

श्रीभगवान् बोले—मनुष्योंकी स्वभावसे उत्पन्न होनेवाली श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। इन तीनोंको तुम मुझसे अलग-अलग सुनो। हे भारत! मनुष्योंका अन्त:करण जैसा होता है, उसमें सात्त्विक, राजस या तामस जैसे संस्कार होते हैं, वैसी ही उनकी श्रद्धा होती है। कारण कि यह मनुष्य श्रद्धा-प्रधान है। इसलिये उसकी जैसी श्रद्धा होती है, वैसा ही उसका स्वरूप होता है अर्थात् वैसी ही उसकी निष्ठा (स्थिति) होती है।

सात्त्विक मनुष्य देवताओंका, राजस मनुष्य यक्ष-राक्षसोंका और तामस मनुष्य भूत-प्रेतोंका पूजन करते हैं। जो मनुष्य दम्भ, अहंकार, भोगोंकी कामना और जिदसे युक्त होकर शास्त्रसे विरुद्ध (मनगढ़ंत) घोर तप करते हैं, वे अपने शरीरको तथा अन्त:करणमें स्थित मुझे भी कष्ट देते हैं। ऐसे अज्ञानी मनुष्योंको तुम आसुरी सम्पत्तिवाले समझो।

जो मनुष्य पूजन, तप आदि नहीं करते, उनकी निष्ठा क्या है—इसकी पहचान भोजनकी रुचिसे होती है; क्योंकि भोजन तो सभी करते हैं। इसलिये भोजन भी सबको तीन प्रकारका प्रिय होता है अर्थात् मनुष्य सात्त्विक, राजस या तामस जैसी निष्ठावाला होता है, वैसा ही भोजन उसे प्रिय होता है। इसी तरह यज्ञ, तप और दान भी सबको तीन प्रकारके प्रिय होते हैं। इनके भेदको तुम मुझसे सुनो।

(*तीन प्रकारके भोजनकर्ता—*) आयु, सत्त्वगुण, बल, नीरोगता, सुख और प्रसन्नताको बढ़ानेवाले, स्थिर रहनेवाले, हृदयको शक्ति देनेवाले, रसयुक्त तथा चिकने (घी, मक्खन, बादाम आदि)—ऐसे भोजनके पदार्थ 'सात्त्विक' मनुष्यको प्रिय होते हैं। अधिक कड़वे, खट्टे, नमकीन, गरम, तीखे, रूखे और दाहकारक भोजनके पदार्थ 'राजस' मनुष्यको प्रिय होते हैं, जो कि परिणाममें दु:ख, शोक और रोगोंको उत्पन्न करते हैं। अधपके या सड़े हुए, रसरहित, शराब, प्याज, लहसुन आदि दुर्गन्धवाले, बासी, जूठे और महान् अपवित्र मांस-मछली-अण्डे आदि भोजनके पदार्थ 'तामस' मनुष्यको प्रिय होते हैं।

(*तीन प्रकारके यज्ञ—*) यज्ञ करना हमारा कर्तव्य है—ऐसा मनमें विचार करके और फलकी इच्छाका त्याग करके शास्त्रविधिके अनुसार जो यज्ञ किया जाता है, वह 'सात्त्विक' होता है। हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! जो यज्ञ फलकी इच्छासे किया जाता है अथवा लोगोंको दिखानेके लिये किया जाता है, वह 'राजस' होता है। जो यज्ञ शास्त्रविधिके बिना, अन्न-दानसे रहित, बिना मन्त्रोंके, बिना दक्षिणाके और बिना श्रद्धाके किया जाता है, वह 'तामस' होता है।

(*तीन प्रकारके तप—*) देवता, ब्राह्मण, गुरुजन और तत्त्वज्ञ महापुरुषका यथायोग्य पूजन, सेवा, आज्ञापालन, आदर आदि करना; जल, मिट्टी आदिसे शरीरको पवित्र रखना; सरलता अर्थात् ऐंठ-अकड़ न रखना; ब्रह्मचर्यका पालन करना और अहिंसा—यह शरीरका तप है। किसीमें भी उद्वेग

(हलचल) पैदा न करनेवाले, सत्य, मीठे और हितकारक वचन बोलना, स्वाध्याय करना और अभ्यास (नामजप आदि) करना—यह वाणीका तप है। मनकी प्रसन्नता, सौम्यभाव, मननशीलता, मनका वशमें होना और भावोंकी शुद्धि—यह मनका तप है। यह तीनों प्रकारका (शारीरिक, वाचिक और मानसिक) तप यदि परम श्रद्धाके साथ और फलकी इच्छा न रखकर निष्कामभावसे किया जाता है तो वह 'सात्त्विक' होता है। जो तप अपने सत्कार, मान और पूजाके लिये तथा लोगोंको दिखानेके भावसे किया जाता है, वह 'राजस' होता है, जिसका फल नाशवान् और अनिश्चित होता है। जो तप मूढ़तापूर्वक हठसे अपनेको पीड़ा देकर अथवा दूसरोंको कष्ट देनेके लिये किया जाता है, वह 'तामस' होता है।

(तीन प्रकारके दान—) दान देना हमारा कर्तव्य है—इस भावसे जो दान देश, काल तथा सुपात्रके प्राप्त होनेपर प्रत्युपकारकी भावना न रखकर अर्थात् निष्कामभावसे दिया जाता है, वह 'सात्त्विक' होता है। जो दान प्रत्युपकार पानेके लिये अथवा फलकी इच्छा रखकर 'देना पड़ रहा है'—ऐसे दुःखपूर्वक दिया जाता है, वह 'राजस' होता है। जो दान बिना सत्कारके तथा तिरस्कारपूर्वक अयोग्य देश और कालमें कुपात्रको दिया जाता है, वह 'तामस' होता है।

ॐ, तत् और सत्—ये तीनों परमात्माके नाम हैं। उस परमात्मासे ही सृष्टिके आरम्भमें वेदों, ब्राह्मणों तथा यज्ञोंकी रचना हुई है। इसलिये वैदिक सिद्धान्तको माननेवाले मनुष्य 'ॐ' का उच्चारण करके ही शास्त्रविधिसे नियत यज्ञ, तप, दान आदि क्रियाएँ आरम्भ करते हैं।

अपनी मुक्ति चाहनेवाले मनुष्य यज्ञ, तप, दान आदि जो भी क्रियाएँ करते हैं, वे सब फलकी इच्छाका त्याग करके 'तत्' नामसे कहे जानेवाले परमात्माकी प्रसन्नताके लिये ही करते हैं, अपने लिये नहीं।

हे पार्थ! परमात्माके 'सत्' नामका प्रयोग सत्तामात्रमें और श्रेष्ठ भाव (सद्‌गुण-सदाचार)-में किया जाता है। श्रेष्ठ कर्मके साथ भी 'सत्' शब्द जोड़ा जाता है। यज्ञ, तप तथा दान आदिमें मनुष्यकी जो स्थिति (निष्ठा, श्रद्धा) है, वह भी 'सत्' कही जाती है। उस परमात्माके निमित्त जो भी लौकिक या पारमार्थिक कर्म किया जाता है, वह सब 'सत्' कहा जाता है। तात्पर्य है कि सत्स्वरूप परमात्माके साथ सम्बन्ध होनेसे उन कर्मोंका फल 'सत्' हो जाता है अर्थात् उनसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

हे पार्थ! अश्रद्धासे किया हुआ यज्ञ, दान, तप तथा और भी जो कुछ शास्त्रीय कर्म किया जाय, वह सब 'असत्' कहा जाता है। उसका फल न तो यहाँ होता है और न मरनेके बाद ही होता है अर्थात् उसका अविनाशी फल नहीं होता। तात्पर्य है कि परमात्माकी प्राप्तिमें क्रियाकी मुख्यता नहीं है, अपितु श्रद्धा-भावकी मुख्यता है।

हरिः ॐ तत्सत्! *हरिः ॐ तत्सत्!!* *हरिः ॐ तत्सत्!!!*

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अठारहवाँ अध्याय

(मोक्षसंन्यासयोग)

अर्जुन बोले—हे महाबाहो! हे हृषीकेश! हे केशिनिषूदन! मैं संन्यास (ज्ञानयोग) और त्याग (कर्मयोग)-का तत्त्व अलग-अलग जानना चाहता हूँ।

श्रीभगवान् बोले—इस विषयमें दार्शनिक विद्वानोंके चार मत हैं—१) कई विद्वान् सकामभावसे किये जानेवाले काम्य कर्मोंके त्यागको संन्यास कहते हैं, २) कई सम्पूर्ण कर्मोंके फलके त्यागको त्याग कहते हैं, ३) कई विद्वान् कहते हैं कि कर्मोंको दोषकी तरह त्याग देना चाहिये, और ४) कई विद्वान् कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिये। हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! संन्यास और त्याग—इन दोनोंमेंसे पहले तुम 'त्याग' के विषयमें मेरा निश्चय सुनो। हे पुरुषश्रेष्ठ! त्याग तीन प्रकारका होता है—सात्त्विक, राजस और तामस।

यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिये, अपितु उन्हें न करते हों तो जरूर करना चाहिये। कारण कि यज्ञ, दान और तप—ये तीनों ही कर्म विचारशील मनुष्योंको पवित्र करनेवाले, आनन्द देनेवाले हैं। हे पार्थ! इन यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको तथा इनके सिवाय दूसरे भी कर्तव्य-कर्मोंको आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करके करना चाहिये—यह मेरा निश्चित किया हुआ उत्तम मत है।

(तीन प्रकारका त्याग—) नियत* कर्मका त्याग करना किसीके लिये भी उचित नहीं है। मोहके कारण इसका त्याग कर देना 'तामस' त्याग है। कर्तव्य-कर्म करनेमें दुःख ही भोगना पड़ता है—ऐसा समझकर शारीरिक परिश्रमके भयसे उसका त्याग करना 'राजस' त्याग है। ऐसा त्याग करनेवालेको त्यागका फल—शान्ति तो नहीं मिलती, पर दण्ड जरूर मिलता है! हे अर्जुन! केवल अपने कर्तव्यका पालन करना है—ऐसा समझकर आसक्ति और फलका त्याग करके कर्म करना 'सात्त्विक' त्याग है।

राग और द्वेष—इन दोनोंसे ही संसारसे सम्बन्ध जुड़ता है। अतः श्रेष्ठ मनुष्य वही है, जो निषिद्ध कर्मोंका त्याग तो करता है, पर द्वेषपूर्वक नहीं और शास्त्रनियत कर्तव्य-कर्म तो करता है, पर रागपूर्वक नहीं। ऐसा बुद्धिमान् त्यागी मनुष्य सन्देहरहित होकर अपने स्वरूपमें स्थित रहता है। कारण कि देहके साथ सम्बन्ध रखनेवाले किसी भी मनुष्यके द्वारा कर्मोंका सर्वथा त्याग करना सम्भव नहीं है। इसलिये जो कर्मफलकी इच्छाका त्याग करता है, वही वास्तवमें 'त्यागी' है। तात्पर्य है कि बाहरका त्याग वास्तवमें त्याग नहीं है, अपितु भीतरका त्याग ही त्याग है। जो कर्मफलकी इच्छा रखकर

---

* शास्त्रोंने जिन कर्मोंको करनेकी आज्ञा दी है, वे सभी 'विहित कर्म' कहलाते हैं। उन विहित कर्मोंमें भी वर्ण, आश्रम और परिस्थितिके अनुसार जिसके लिये जो (जीविका और शरीरनिर्वाह-सम्बन्धी) कर्म आवश्यक होता है, उसके लिये वह 'नियत कर्म' कहलाता है। विहितकी अपेक्षा नियत कर्ममें मनुष्यकी विशेष जिम्मेवारी होती है। जैसे, किसीको पहरेपर खड़ा कर दिया या जल पिलानेके लिये प्याऊपर बैठा दिया तो यह उसके लिये नियत कर्म हो गया, जिसकी उसपर विशेष जिम्मेवारी है। इसलिये नियत कर्मके त्यागका ज्यादा दोष लगता है।

कर्म करते हैं, उन्हें मरनेके बाद भी तीन तरहका कर्मफल अवश्य प्राप्त होता है—इष्ट (सुखदायी परिस्थिति), अनिष्ट (दु:खदायी परिस्थिति) और मिश्रित (कुछ भाग इष्टका और कुछ भाग अनिष्टका)। परन्तु जो कर्मफलकी इच्छाका त्याग करके कर्म करते हैं, उन्हें यहाँ और मरनेके बाद भी कर्मफल प्राप्त नहीं होता।

हे महाबाहो! जिसमें सम्पूर्ण कर्मोंका अन्त हो जाता है, उस सांख्यसिद्धान्तमें सम्पूर्ण कर्मोंके सिद्ध होनेमें ये पाँच कारण बताये गये हैं—१) शरीर, २) कर्ता, ३) करण अर्थात् अन्त:करण (मन, बुद्धि तथा अहंकार) और बहि:करण (दस इन्द्रियाँ), ४) करणोंके द्वारा होनेवाली अलग-अलग चेष्टाएँ, और ५) संस्कार। मनुष्य शरीर, वाणी और मनके द्वारा शास्त्रविहित अथवा शास्त्रनिषिद्ध जो कुछ भी कर्म करता है, वे इन पाँच हेतुओंसे ही होते हैं, स्वरूप (आत्मा)-से नहीं। परन्तु ऐसा होनेपर भी जो दुर्बुद्धि मनुष्य अपने स्वरूपको कर्ता मान लेता है, उसकी मान्यता ठीक नहीं है; क्योंकि उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है अर्थात् उसने अपने विवेकको महत्त्व नहीं दिया है। परन्तु जिसमें 'मैं कर्ता हूँ'—ऐसा अहंकृतभाव नहीं है और जिसकी बुद्धिमें कर्मफलकी इच्छा नहीं है, ऐसा जीवन्मुक्त महापुरुष यदि युद्धमें इन सम्पूर्ण प्राणियोंको मार डाले, तो भी वह मारता नहीं; क्योंकि उसमें कर्तापन नहीं है और वह बँधता भी नहीं; क्योंकि उसमें भोक्तापन नहीं है। तात्पर्य है कि उसका न क्रियाओंके साथ सम्बन्ध है, न फलके साथ सम्बन्ध है। [*अहंता और फलेच्छा होनेसे ही पाप लगता है। जैसे, गंगामें कोई डूबकर मर जाता है तो गंगाको पाप नहीं लगता और कोई उसके जलसे अपनी प्यास बुझाता है, खेती करता है तो गंगाको पुण्य नहीं लगता; क्योंकि गंगामें अहंता और फलेच्छा नहीं है।*]

ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता (जाननेवाला)—इन तीनोंसे कर्म करनेकी प्रेरणा होती है तथा करण, कर्म और कर्ता—इन तीनोंसे कर्मका संग्रह होता है अर्थात् कर्म फल देनेवाला होता है। जिस शास्त्रमें गुणोंके सम्बन्धसे प्रत्येक पदार्थके भिन्न-भिन्न भेदोंकी गणना की गयी है, उस शास्त्रमें गुणोंके भेदसे ज्ञान, कर्म और कर्ताके सात्त्विक, राजस और तामस—ये तीन भेद कहे गये हैं। उन्हें तुम ध्यानसे सुनो।

(*तीन प्रकारके ज्ञान—*) जिस ज्ञानके द्वारा साधक सम्पूर्ण विभक्त (अलग-अलग) प्राणियोंमें विभागरहित एक अविनाशी सत्ताको देखता है, वह ज्ञान 'सात्त्विक' है। जिस ज्ञानके द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण अलग-अलग प्राणियोंमें अविनाशी सत्ताको भी अलग-अलग देखता है, वह ज्ञान 'राजस' है। जिस ज्ञानके द्वारा मनुष्य एक शरीरमें ही पूर्णरूपसे आसक्त रहता है अर्थात् उत्पन्न तथा नष्ट होनेवाले शरीरको ही अपना स्वरूप मानता है, और जो ज्ञान युक्तिसंगत नहीं है, विवेकसे रहित है और तुच्छ है, वह ज्ञान 'तामस' है। तामस ज्ञान वास्तवमें अज्ञान ही है।

(*तीन प्रकारके कर्म—*) शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ जो कर्म फलेच्छारहित मनुष्यके द्वारा कर्तृत्वाभिमान ('मैं कर्ता हूँ'—यह भाव) और राग-द्वेषसे रहित होकर किया जाता है, वह कर्म 'सात्त्विक' है। जो कर्म भोगोंकी इच्छासे, अहंकारसे अथवा परिश्रमसे किया जाता है, वह कर्म 'राजस' है। जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्यको न देखकर अर्थात् 'इस कार्यको करनेसे परिणाममें कितना नुकसान होगा, अपने तथा दूसरेके शरीरोंकी कितनी हानि होगी, कितने जीवोंकी हिंसा होगी, और इस कार्यको करनेकी मुझमें कितनी शक्ति, योग्यता है'—इसपर कुछ भी विचार न करके मोहपूर्वक किया जाता है, वह कर्म 'तामस' है।

(तीन प्रकारके कर्ता—) जो कर्ता आसक्तिसे रहित, अहंकारसे रहित, धैर्य तथा उत्साहसे युक्त और कर्मोंकी सिद्धि-असिद्धिमें निर्विकार रहता है, वह कर्ता 'सात्त्विक' है। जो कर्ता रागी, कर्मफलकी इच्छावाला, लोभी, हिंसाके स्वभाववाला, अशुद्ध और हर्ष-शोकसे युक्त है, वह कर्ता 'राजस' है। जो कर्ता असावधान, कर्तव्य-अकर्तव्यकी शिक्षासे रहित, ऐंठ-अकड़वाला, जिद्दी, कृतघ्नी, आलसी, विषादी अथवा अशान्त और दीर्घसूत्री (थोड़े समयमें होनेवाले काममें भी ज्यादा समय लगानेवाला) है, वह कर्ता 'तामस' है।

हे धनंजय! अब तुम गुणोंके अनुसार बुद्धि और धृति* (धारण-शक्ति)-के भी तीन-तीन भेद सुनो।

(तीन प्रकारकी बुद्धि—) हे पार्थ! जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्तिको, कर्तव्य और अकर्तव्यको, भय और अभयके कारणको तथा बन्धन और मोक्षको ठीक-ठीक जानती है, वह बुद्धि 'सात्त्विकी' है। हे पार्थ! जो बुद्धि धर्म और अधर्मको तथा कर्तव्य और अकर्तव्यको भी ठीक तरहसे नहीं जानती, वह बुद्धि 'राजसी' है। हे पृथानन्दन! तमोगुणसे घिरी हुई जो बुद्धि धर्मको अधर्म तथा अधर्मको धर्म और सब बातोंको विपरीत, उल्टा ही मान लेती है, वह बुद्धि 'तामसी' है।

(तीन प्रकारकी धृति—) हे पार्थ! समतासे युक्त जिस अव्यभिचारिणी** धृतिके द्वारा मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें रखता है, वह धृति 'सात्त्विकी' है। हे पृथानन्दन अर्जुन! संसारमें अत्यन्त आसक्त मनुष्य जिस धृतिके द्वारा अपनी कामना-पूर्तिके लिये धर्मका पालन करता है, भोग-पदार्थोंको भोगता है तथा धनका संग्रह करता है, वह धृति 'राजसी' है। हे पार्थ! दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य जिस धृतिके द्वारा अधिक निद्रा, भय, चिन्ता, दुःख और घमण्डको धारण किये रहता है, इनमें रचा-पचा रहता है, वह धृति 'तामसी' है।

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! अब तीन प्रकारके सुखको भी तुम मुझसे सुनो।

(तीन प्रकारके सुख—) जिस सुखका अभ्याससे अनुभव होता है, जिसके मिलनेपर दुःखोंका नाश हो जाता है, जो परमात्मामें बुद्धि विलीन होनेपर उत्पन्न होता है, और जो आरम्भमें सांसारिक सुखासक्तिके कारण विषकी तरह दुःखदायी तथा परिणाममें अमृतकी तरह आनन्ददायक प्रतीत होता है, वह सुख 'सात्त्विक' है। इन्द्रियों तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन पाँचों विषयोंके संयोगसे होनेवाला जो सांसारिक भोगोंका सुख आरम्भमें अमृतकी तरह और परिणाममें विषकी तरह प्रतीत होता है, वह सुख 'राजस' है। निद्रा, आलस्य तथा प्रमादसे उत्पन्न होनेवाला जो सुख आरम्भमें और परिणाममें अपनेको मोहित करनेवाला (विवेकको लुप्त करनेवाला) होता है, वह सुख 'तामस' है।

[सात्त्विक, राजस और तामस—इन तीनोंमेंसे 'सात्त्विक' चीजें तो कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करके परमात्मतत्त्वका बोध करानेवाली हैं, 'राजस' चीजें जन्म-मरण देनेवाली हैं, और 'तामस' चीजें पतन करनेवाली अर्थात् नरकों और नीच योनियोंमें ले जानेवाली हैं। इसलिये इनका वर्णन पढ़कर सात्त्विक चीजोंको ग्रहण तथा राजस-तामस चीजोंका त्याग करना चाहिये।]

---

* अपनी मान्यता, सिद्धान्त, लक्ष्य, भाव, क्रिया, वृत्ति, विचार आदिको दृढ़, अटल रखनेकी शक्तिका नाम 'धृति' है।

** भगवान्‌को चाहनेके साथ-साथ इस लोकके तथा परलोकके सुख-भोगको भी चाहना 'व्यभिचार' है; और इस लोक तथा परलोकके सुख-भोगकी किंचिन्मात्र भी इच्छा न रखकर केवल भगवान्‌को

ही चाहना 'अव्यभिचार' है।

पृथ्वीमें, स्वर्गादि लोकोंमें तथा उनमें रहनेवाले मनुष्य, देवता, असुर आदि सम्पूर्ण चर-अचर प्राणियोंमें और इनके सिवाय अनन्त ब्रह्माण्डोंमें रहनेवाली कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो अर्थात् सम्पूर्ण सृष्टि त्रिगुणात्मक है।

हे परंतप! अनेक जन्मोंमें किये हुए कर्मोंके संस्कारोंके अनुसार मनुष्यका जैसा स्वभाव बनता है, उसीके अनुसार उसमें सत्त्व, रज और तम—तीनों गुणोंकी वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। इन गुणवृत्तियोंके अनुसार ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके कर्मोंका अलग-अलग विभाग किया गया है। कारण कि मनुष्यमें जैसी गुणवृत्तियाँ होती हैं, वैसा ही वह कर्म करता है। स्वाभाविक कर्म करनेमें उसे परिश्रम भी नहीं होता।

(*ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म—*) १) मनका निग्रह करना, २) इन्द्रियोंको वशमें करना, ३) धर्मपालनके लिये प्रसन्नतापूर्वक कष्ट सहना, ४) बाहर-भीतरसे शुद्ध रहना, ५) दूसरोंके प्रति क्षमाभाव, ६) शरीर, वाणी, मन आदिमें सरलता रखना, ७) वेद, शास्त्र आदिका ठीक तरहसे ज्ञान होना, ८) यज्ञविधिका ठीक तरहसे अनुभव होना, और ९) परमात्मा, वेद आदिमें श्रद्धा-विश्वास होना—ये सब 'ब्राह्मण' के स्वाभाविक कर्म (गुण) हैं।

(*क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म—*) १) शूरवीरता, २) तेज, ३) धैर्य, ४) प्रजाके संचालन आदिकी विशेष चतुरता, ५) युद्धमें कभी पीठ न दिखाना, ६) दानवीरता, और ७) शासन करनेका भाव—ये 'क्षत्रिय' के स्वाभाविक कर्म हैं।

(*वैश्यके स्वाभाविक कर्म—*) १) खेती करना, २) गायोंकी रक्षा, उनकी वंशवृद्धि करना, और ३) शुद्ध व्यापार करना—ये 'वैश्य' के स्वाभाविक कर्म हैं।

(*शूद्रका स्वाभाविक कर्म—*) चारों वर्णोंकी सेवा करना 'शूद्र' का स्वाभाविक कर्म है।

अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंमें निष्कामभावसे तत्परतापूर्वक लगा हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त कर लेता है। तात्पर्य है कि मनके निग्रह आदि नौ धर्मोंके पालनसे ब्राह्मणका जो कल्याण होता है, वही कल्याण शूरवीरता आदि सात धर्मोंके पालनसे क्षत्रियका होता है, वही कल्याण खेती, गोरक्षा और व्यापारके पालनसे वैश्यका होता है, और वही कल्याण केवल सेवा करनेसे शूद्रका हो जाता है।

अपने स्वाभाविक कर्मोंमें लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकार परमात्माको प्राप्त होता है, उस प्रकारको तुम मुझसे सुनो। जिस परमात्मासे सम्पूर्ण संसार उत्पन्न हुआ है और जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, उस परमात्माका अपने कर्मोंके द्वारा पूजन करके मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है। [*अपने लिये कर्म करना 'बन्धन' है, संसारके लिये कर्म करना 'सेवा' है और भगवान्‌के लिये कर्म करना 'पूजन' है। पूजनमें खास बात है—सब कुछ भगवान्‌का तथा भगवान्‌के लिये ही है।*]

यदि अपना धर्म कम गुणोंवाला है तथा उसका पालन करनेमें कठिनाई भी होती है, पर दूसरेका धर्म अधिक गुणोंवाला है तथा पालन करनेमें भी सुगम है, तो भी अपने धर्मका पालन करना ही श्रेष्ठ है। कारण कि स्वाभाविक कर्म अर्थात् स्वधर्मका पालन करनेसे मनुष्यको पाप नहीं लगता। इसलिये हे कुन्तीनन्दन! यदि अपने धर्ममें दोष भी हो, तो भी अपने धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि जैसे आग जलानेपर आरम्भमें धुआँ होता ही है, ऐसे ही हरेक कर्मके आरम्भमें कोई-न-कोई दोष होता ही है। तात्पर्य है कि विहित कर्म करनेमें दोष होता तो है, पर कामना, सुखासक्ति

न रहनेसे दोष लगता नहीं।

जिसकी बुद्धिमें किसी भी वस्तु, व्यक्ति आदिकी आसक्ति नहीं है, जिसने शरीरको वशमें कर रखा है, और जिसे शरीर-निर्वाहके लिये किसी भी वस्तुकी परवाह नहीं है, ऐसा मनुष्य ज्ञानयोगके द्वारा नैष्कर्म्यसिद्धि (परमात्मतत्त्व) को प्राप्त हो जाता है अर्थात् उसके सब कर्म अकर्म हो जाते हैं। हे कौन्तेय! जिसका अन्त:करण सर्वथा शुद्ध हो गया है, ऐसा साधक ज्ञानकी परा निष्ठा (ब्रह्म)-को जिस साधन-सामग्रीसे प्राप्त होता है, उसे तुम मुझसे संक्षेपमें समझो।

सात्त्विकी बुद्धिवाला, वैराग्यवान्, एकान्तमें रहनेके स्वभाववाला और सात्त्विक भोजन करनेवाला जो साधक धैर्यपूर्वक इन्द्रियोंका संयम करके, शरीर-वाणी-मनको वशमें करके, शब्दादि विषयोंका त्याग करके और राग-द्वेषको छोड़कर निरन्तर परमात्माके ध्यानमें लगा रहता है, वह अहंकार, हठ, घमण्ड, भोगेच्छा, क्रोध और परिग्रह (भोगबुद्धिसे वस्तुओंके संग्रह)-का त्याग करके एवं ममतारहित तथा शान्त होकर ब्रह्मप्राप्तिका अधिकारी हो जाता है। वह अपनेको ब्रह्मरूपसे अनुभव करनेवाला तथा प्रसन्न मनवाला साधक न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी इच्छा ही करता है तथा उसका सम्पूर्ण प्राणियोंमें समभाव हो जाता है। ऐसे साधकको मेरी पराभक्ति प्राप्त हो जाती है। उस पराभक्तिसे वह मुझे 'मैं जितना हूँ और जो हूँ'—इस तरह मेरे समग्ररूपको तत्त्वसे जानकर तत्काल मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।

अनन्यभावसे मेरा आश्रय लेनेवाला भक्त सब विहित कर्मोंको सदा करते हुए भी मेरी कृपासे निरन्तर रहनेवाले अविनाशी पद (परमधाम)-को प्राप्त हो जाता है। इसलिये तुम मेरे परायण होकर चित्तसे सम्पूर्ण कर्म मेरे अर्पण कर दो और समताका आश्रय लेकर अर्थात् संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करके निरन्तर मुझमें चित्तवाले हो जाओ। मुझमें चित्तवाले होनेपर तुम मेरी कृपासे सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओंको तर जाओगे। [*भक्तका काम केवल भगवान्‌का आश्रय लेना है, भगवान्‌का ही चिन्तन करना है। फिर उसके सब काम भगवान् ही करते हैं। भगवान् भक्तपर विशेष कृपा करके उसके साधनकी सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओंको भी दूर कर देते हैं और अपनी प्राप्ति भी करा देते हैं।*]

यदि तुम अहंकारके कारण मेरी बात नहीं मानोगे तो तुम्हारा पतन हो जायगा। तुमने अहंकारका आश्रय लेकर 'मैं युद्ध नहीं करूँगा'—इस प्रकार युद्ध न करनेका जो निश्चय किया है, वह झूठा है; क्योंकि तुम्हारा क्षात्र-स्वभाव तुम्हें जबर्दस्ती युद्धमें लगा देगा। हे कुन्तीनन्दन! अपने स्वाभाविक कर्मसे बँधे हुए तुम मोहके कारण जिस युद्धको नहीं करना चाहते, उसे भी तुम क्षात्र-स्वभावके परवश होकर करोगे।

हे अर्जुन! ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें रहता है। जो प्राणी शरीरको 'मैं' और 'मेरा' मानते हैं, उन सम्पूर्ण प्राणियोंको वह ईश्वर अपनी मायाशक्तिसे (उनके अच्छे या बुरे स्वभावके अनुसार) संसारमें घुमाता है। हे भारत! तुम सर्वभावसे (अपनी कोई कामना न रखकर) उस ईश्वरकी ही शरणमें चले जाओ। उसकी कृपासे तुम्हें परम शान्ति (संसारसे सर्वथा उपरति) और अविनाशी परमपद—दोनोंकी प्राप्ति हो जायगी।

यह गोपनीय-से-गोपनीय शरणागतिरूप ज्ञान मैंने तुमसे कहा है। अब तुम इसपर अच्छी तरहसे विचार करके फिर जैसी इच्छा हो, वैसा करो।

हे पार्थ! सबसे अत्यन्त गोपनीय सर्वोत्कृष्ट वचन तुम फिर मुझसे सुनो। तुम मेरे अत्यन्त प्रिय सखा हो, इसलिये मैं तुम्हारे विशेष हितकी बात कहूँगा। तुम मेरे भक्त हो जाओ अर्थात् 'मैं भगवान्‌का

ही हूँ'—इस प्रकार अपनी अहंता बदल दो; मुझमें मनवाले हो जाओ अर्थात् मुझे अपना मान लो; अपने सब कर्मोंसे मेरा पूजन करो; और मुझे नमस्कार करो अर्थात् सर्वथा मेरे समर्पित हो जाओ। इस प्रकार सर्वथा मेरे सम्मुख होनेपर तुम मूझे ही प्राप्त हो जाओगे—यह मैं तुम्हारे सामने सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो। **सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय, उनके निर्णयका विचार छोड़कर तुम केवल मेरी शरणमें आ जाओ। मैं तुम्हें सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा। तुम चिन्ता मत करो।**

[*यह शरणागति सम्पूर्ण गीताका सार है, जिसे भगवान्ने विशेष कृपा करके कहा है। इस शरणागतिमें ही गीताके उपदेशकी पूर्णता होती है। शरणागत भक्त 'मैं भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—इस भावको दृढ़तासे स्वीकार कर लेता है तो उसके भय, शोक, चिन्ता आदि दोषोंकी जड़ कट जाती है।*]

इस अत्यन्त गोपनीय शरणागतिवाली बातको तुम असहिष्णुको अर्थात् जिसमें सहनशीलता नहीं है, उसे मत कहना। जिसकी मुझपर तथा मेरे वचनोंपर श्रद्धा-भक्ति नहीं है, जो भक्तिका विरोध या खण्डन करता है, उसे कभी मत कहना। जो अहंकारके कारण सुनना नहीं चाहता, उसे भी मत कहना। जो मुझमें दोषदृष्टि करता है, उसे भी मत कहना।

[*गीताकी शिक्षासे मनुष्यमात्रका प्रत्येक परिस्थितिमें सुगमतासे कल्याण हो सकता है, इसलिये भगवान् इसके प्रचारकी विशेष महिमा कहते हैं—*] जो मनुष्य मेरी पराभक्ति पानेका उद्देश्य रखकर इस परम गोपनीय गीता-ग्रन्थको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह निःसन्देह मुझे ही प्राप्त होगा। इतना ही नहीं, उसके समान मेरा अत्यन्त प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है और इस भूमण्डलपर उसके समान मेरा दूसरा कोई अति प्रिय होगा भी नहीं! जो मनुष्य हम दोनोंके इस धर्ममय संवादका अध्ययन करेगा, उसके द्वारा भी मैं 'ज्ञानयज्ञ' से पूजित होऊँगा—ऐसा मेरा मत है। इतना ही नहीं, दोषदृष्टिसे रहित जो मनुष्य इस गीता-ग्रन्थको श्रद्धापूर्वक सुन भी लेगा, वह भी शरीर छूटनेपर अपने भावके अनुसार स्वर्गादि लोकोंमें अथवा मेरे परमधामको प्राप्त हो जायगा।

हे पृथानन्दन! क्या तुमने एकाग्रचित्तसे मेरे वचनोंको सुना? और हे धनंजय! क्या तुम्हारा अज्ञानसे उत्पन्न मोह नष्ट हुआ?

अर्जुन बोले—हे अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे खोयी हुई स्मृति प्राप्त हो गयी है अर्थात् 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इसका अनुभव हो गया है। मेरे सभी सन्देह मिट गये हैं। अब मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा। तात्पर्य है कि आपके सर्वथा शरण हो जानेसे अब मेरे लिये कुछ भी करना बाकी नहीं रहा, केवल आपकी आज्ञाका पालन करना बाकी रहा।

संजय धृतराष्ट्रसे बोले—इस प्रकार मैंने भगवान् वासुदेव और महात्मा अर्जुनका यह रोमांचित कर देनेवाला अद्भुत संवाद सुना। महर्षि वेदव्यासजीकी कृपासे मैंने स्वयं इस परम गोपनीय योगशास्त्र (गीता)-को कहते हुए साक्षात् योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णसे सुना है, परम्परासे नहीं। हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके इस पवित्र और अद्भुत संवादको याद कर-करके मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ। हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्णके उस अत्यन्त अद्भुत विराट्‌रूपको भी याद कर-करके मुझे बड़ा भारी आश्चर्य हो रहा है और मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ। जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं और जहाँ गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन हैं, उसी पक्षमें श्री, विजय, विभूति तथा अचल नीति है; और मेरी सम्मति भी उसी पक्षमें है।

हरिः ॐ तत्सत्! *हरिः ॐ तत्सत्!!* *हरिः ॐ तत्सत्!!!*

यदि कोई जिज्ञासु पाठक गीताके विषयको विस्तारसे समझना चाहे तो उसे परमश्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज द्वारा रचित गीताकी 'साधक-संजीवनी' हिन्दी टीका अवश्य पढ़नी चाहिये। यह ग्रन्थ 'गीताप्रेस, गोरखपुर' से प्रकाशित है और इसका अँग्रेजी, बँगला, गुजराती, मराठी, ओड़िया, तमिल और कन्नड़ भाषामें भी अनुवाद उपलब्ध है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

गीता-सार

पहले अध्यायका सार

सांसारिक मोहके कारण ही मनुष्य 'मैं क्या करूँ और क्या नहीं करूँ' —इस दुविधामें फँसकर कर्तव्यच्युत हो जाता है। अतः मोह या सुखासक्तिके वशीभूत नहीं होना चाहिये।

दूसरे अध्यायका सार

शरीर नाशवान् है और उसे जाननेवाला शरीरी अविनाशी है—इस विवेकको महत्व देना और अपने कर्तव्यका पालन करना—इन दोनोंमेंसे किसी भी एक उपायको काममें लानेसे चिन्ता-शोक मिट जाते हैं।

तीसरे अध्यायका सार

निष्कामभावपूर्वक केवल दूसरोंके हितके लिये अपने कर्तव्यका तत्परतासे पालन करनेमात्रसे कल्याण हो जाता है।

चौथे अध्यायका सार

कर्मबन्धनसे छूटनेके दो उपाय हैं—कर्मोंके तत्त्वको जानकर निःस्वार्थभावसे कर्म करना और तत्त्वज्ञानका अनुभव करना।

पाँचवें अध्यायका सार

मनुष्यको अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंके आनेपर सुखी-दुःखी नहीं होना चाहिये; क्योंकि इनसे सुखी-दुःखी होनेवाला मनुष्य संसारसे ऊँचा उठकर परम आनन्दका अनुभव नहीं कर सकता।

छठे अध्यायका सार

किसी भी साधनसे अन्तःकरणमें समता आनी चाहिये। समता आये बिना मनुष्य सर्वथा निर्विकल्प नहीं हो सकता।

सातवें अध्यायका सार

सब कुछ भगवान् ही हैं—ऐसा स्वीकार कर लेना सर्वश्रेष्ठ साधन है।

आठवें अध्यायका सार

अन्तकालीन चिन्तनके अनुसार ही जीवकी गति होती है। अतः मनुष्यको हरदम भगवान्का स्मरण करते हुए अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये, जिससे अन्तकालमें भगवान्की स्मृति बनी रहे।

नवें अध्यायका सार

सभी मनुष्य भगवत्प्राप्तिके अधिकारी हैं, चाहे वे किसी भी वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय, देश, वेश आदिके क्यों न हों।

दसवें अध्यायका सार

संसारमें जहाँ भी विलक्षणता, विशेषता, सुन्दरता, महत्ता, विद्वत्ता, बलवत्ता आदि दीखे, उसको भगवान्का ही मानकर भगवान्का ही चिन्तन करना चाहिये।

ग्यारहवें अध्यायका सार

इस जगत्‌को भगवान्‌का ही स्वरूप मानकर प्रत्येक मनुष्य भगवान्‌के विराट्‌रूपके दर्शन कर सकता है।

बारहवें अध्यायका सार

जो भक्त शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसहित अपने-आपको भगवान्‌के अर्पण कर देता है, वह भगवान्‌को प्रिय होता है।

तेरहवें अध्यायका सार

संसारमें एक परमात्मतत्त्व ही जाननेयोग्य है। उसको जाननेपर अमरताकी प्राप्ति हो जाती है।

चौदहवें अध्यायका सार

संसार-बन्धनसे छूटनेके लिये सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंसे अतीत होना जरूरी है। अनन्यभक्तिसे मनुष्य इन तीनों गुणोंसे अतीत हो जाता है।

पन्द्रहवें अध्यायका सार

इस संसारका मूल आधार और अत्यन्त श्रेष्ठ परमपुरुष एक परमात्मा ही हैं—ऐसा मानकर अनन्यभावसे उनका भजन करना चाहिये।

सोलहवें अध्यायका सार

दुर्गुण-दुराचारोंसे ही मनुष्य चौरासी लाख योनियों एवं नरकोंमें जाता है और दुःख पाता है। अतः जन्म-मरणके चक्रसे छूटनेके लिये दुर्गुण-दुराचारोंका त्याग करना आवश्यक है।

सत्रहवें अध्यायका सार

मनुष्य श्रद्धापूर्वक जो भी शुभ कार्य करे, उसको भगवान्‌का स्मरण करके, उनके नामका उच्चारण करके ही आरम्भ करना चाहिये।

अठारहवें अध्यायका सार

सब ग्रन्थोंका सार वेद हैं, वेदोंका सार उपनिषद् हैं, उपनिषदोंका सार गीता है और गीताका सार भगवान्‌की शरणागति है। जो अनन्यभावसे भगवान्‌की शरण हो जाता है, उसे भगवान् सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर देते हैं।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

परमश्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजकी वाणीपर आधारित

'गीता प्रकाशन' का शीघ्र कल्याणकारी साहित्य

१. **संजीवनी-सुधा**—'गीता साधक-संजीवनी' पर आधारित शोधपूर्ण पुस्तक।
२. **सीमाके भीतर असीम प्रकाश**—मार्मिक प्रवचनोंका सार-संग्रह।
३. **बिन्दुमें सिन्धु**—मार्मिक प्रवचनोंका सार-संग्रह।
४. **नये रास्ते, नयी दिशाएँ**—मार्मिक प्रवचनोंका सार-संग्रह।
५. **अनन्तकी ओर**—मार्मिक प्रवचनोंका सार-संग्रह।
६. **स्वातिकी बूँदें**—मार्मिक प्रवचनोंका सार-संग्रह।
७. **अनुभव-वाणी**—चुने हुए अनमोल वचन। अँग्रेजी-भाषान्तरसहित।
८. **सहज गीता** (अँग्रेजीमें भी)—नये पाठकोंके लिये 'साधक-संजीवनी' के अनुसार गीताका सरल हिन्दीमें भावार्थ।
९. **हे नाथ! मैं आपको भूलूँ नहीं** (गुजराती व अँग्रेजीमें भी)—इस प्रार्थनाके रहस्य तथा महत्त्वका अद्भुत वर्णन।
१०. **कृपामयी भगवद्गीता** (गुजरातीमें भी)—गीताकी महिमा और उसकी विलक्षणताका वर्णन।
११. **लक्ष्य अब दूर नहीं** (गुजरातीमें भी)—परमात्मप्राप्तिके विविध सुगम साधनोंका अनूठा संकलन।
१२. **सहज समाधि भली** (गुजरातीमें भी)—'चुप साधन' का विस्तृत विवेचन।
१३. **अपने प्रभुको पहचानें**—भगवान्‌के समग्ररूपका विस्तृत विवेचन।
१४. **एक सन्तकी अमूल्य शिक्षा** (क्या करें, क्या न करें)
१५. **विलक्षण सन्त, विलक्षण वाणी**—प० श्रीस्वामीजी महाराजकी वसीयत-सहित।
१६. **गोरक्षा—हमारा परम कर्तव्य**
१७. **क्या करें, क्या न करें ?**—आचार-व्यवहार संबंधी शास्त्र-वचनोंका अनूठा संग्रह।
१८. **भवन-भास्कर** (परिशिष्ट-सहित)—वास्तुशास्त्रकी महत्त्वपूर्ण बातें।
१९. **सुखपूर्वक जीनेकी कला**—सर्वोपयोगी प्रश्नोत्तर।
२०. **क्या आप ईश्वरको मानते हैं ?**—साधकोंके लिये चेतावनी।
२१. **बोलनेवाली श्रीमद्भगवद्गीता** (अर्थसहित)—इसे पढ़नेके साथ-साथ शुद्ध उच्चारणमें सुन भी सकते हैं।
२२. **ग्लोब गीता**—आकर्षक ग्लोबके आकारमें सम्पूर्ण गीता।

गीता प्रकाशन,
कार्यालय—माया बाजार, पश्चिमी फाटक,
गोरखपुर—273001 (उ०प्र०)
फोन—09389593845; 07668312429
e-mail: radhagovind10@gmail.com